जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. No. II

Edited by

Dr. B. A. Saletore. M. A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
B. Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

SEPTEMBER, 1939.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर क़ी सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ भाद्रपद किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४॥) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

पृष्ठ

१ भारतवर्ष के पतन का मुख्य कारण—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम०आर०ए०एस ७१

२ क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन है ?—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ७८

३ अपभ्रंश साहित्य और जैनी !—['साहित्य-भ्रमर' ८८

४ आचार्य नेमि वन्द्र और ज्योतिष-शास्त्र—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ९३

५ दाक्षिणात्य जैनधर्म—[श्रीयुत स्व० आर० ताताचार्य, एम०ए०, एल० टी० ... १०२

६ कोपण—कोप्पल—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... ११०

७ आचार्य वादिराज और उनकी रचनाएँ—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ... ११३

८ विविध विषय—(१) नयविवरण के सम्बन्ध में—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ... १२३

(२) हिन्दी के दो हरिवंश पुराण [श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ... १२४

(३) शहर मुड़ासा कहाँ था ?- [श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ... १२९

(४) श्रीमाल नगर का एक शिलालेख—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन १३०

(५) "जैन एण्टीक्वेरी" का सार (भा० ४, कि० ४) ,, ,, ... १३२

(६) अपनी बात—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १३३

९ साहित्य-समालोचना—(१) दादा श्रीजिनकुशल सूरि—[पं० के० भुजबली शास्त्री १३४

(२) जैनइतिहास (३ रा भाग)—[पं० के० भुजबली शास्त्री १३४

(३) रत्नकरण्ड-श्रावकाचार [श्रीयुत महेन्द्रकुमार जैन, काव्यतीथ १३५

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ८९ से ९६ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १४५ से १५२ तक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | सितम्बर १९३९। भाद्रपद वीर नि० सं० २४६५ | किरण २

भारतवर्ष के पतन का मुख्य कारण

[लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम०आर०ए० एस०]

भारतवर्ष भगवान् महावीर के समय में एक स्वाधीन देश था। स्वतंत्र-समुन्नत वातावरण में पाले-पोसे गये भारतीय लाल उस समय पूर्ण स्वाभिमानी और समृद्धिशाली थे। भारतीय-उत्कर्ष का सूर्य तब अपनी परमोत्कृष्ट-शीर्ष-सीमा पर था। उस समय भारत का ज्ञान भारत का सदाचार, भारत का वैभव, भारत का शौर्य, भारत का कला-कौशल और भारत का व्यापार—सब कुछ दूर दूर देशों तक प्रसिद्ध था। तत्कालीन यूनानी लेखकों ने इन सब बातों के लिए भारत की खूब ही प्रशंसा लिखी है और यह भी लिखा है कि भारत के लोह-कपाट तबतक किसी भी विदेशी आक्रमणकारी ने नहीं खोल पाये थे*—भारतीय अजेय थे, उनकी शक्ति अपार थी! किन्तु किसी के दिन सदा एक से नहीं रहते—भारत के भाग्य को घुन लग

* McCrindle, Ancient India, p. 33.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

थे ! फिर भला सोचिये कि आंशिक रूप में अहिंसाव्रत को पालनेवाले गृहस्थ के कर्तव्यमार्ग में अहिंसा-सिद्धांत कैसे बाधक हो सकता है ? हाँ, यह अवश्य है कि वह उसे एक "पशु" न रख कर सात्विक मनुष्य बना देता है। भगवान् महावीर के पश्चात् जबतक भारतीय लोक-समाज में अहिंसाधर्म प्रचलित रहा तबतक यहाँ विदेशी लोगों की दाल नहीं गली और देश भी खूब समुन्नत रहा। नन्द-सम्राटों में नन्दवर्द्धन एक महान् विजेता थे—उन्होंने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से ईरानियों को भगा दिया था [१]। विद्वानों की मान्यता है कि सम्राट् नन्दवर्द्धन जैनधर्मानुयायी थे।[१] नन्दों के बाद मौर्यों ने भारत के शासन-सूत्र को संभाला था, जिनमें सम्राट् चन्द्रगुप्त का नाम भुवन-विख्यात है। इस बाँके वीर ने भारत का राष्ट्रीय एकीकरण करके उसे खूब समृद्धिशाली बनाया था। चन्द्रगुप्त के रामराज्य की यूनानियों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और यह भी लिखा है कि उन्होंने यूनानी बादशाह सिल्यूकस नाइकेटर को परास्त करके पश्चिमोत्तर भारत से यूनानी राज्य का अन्त कर दिया था। प्राचीन शास्त्रों और शिलालेखों से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामी का शिष्य था और अन्त में उन्हीं के निकट जैन मुनि हो गया था।[२] तीसरी बार जब फिर भारत पर विदेशियों का आक्रमण हुआ और यूनानी बादशाह दमत्रय (Demeterius) मथुरा तक घुस आया तो उस समय उससे मोरचा लेने के लिये—भारत-दिग्विजय कर के उसको स्वाधीन बनाने के लिये जैनधर्म के अनन्य संरक्षक कलिङ्ग-सम्राट् खारवेल कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुये थे। खारवेल के शौर्य की वार्ता सुनकर ही दमत्रय मथुरा छोड़ कर भाग गया था[३]। सारांश यह कि प्राचीनकाल में जिस समय भारतीय नरेश जैन अहिंसा के उपासक थे, उस समय देश में इतना काफी ओज, स्वाभिमान और शौर्य विद्यमान था कि यूनानियों ने लगातार आक्रमण करते रहने पर भी अपना झंडा भारत में नहीं गाड़ पाया था।

उपरांतकाल में भी भारतवर्ष के जिन आदर्श नरेशों की गणना भुवन-विख्यात सम्राटों में है उनमें से प्रमुख शासकगण जैन अथवा बौद्ध धर्मों के अनुयायी थे। अरब के लेखकों ने राठौर राजा अमोघवर्ष वल्लभराज (बलहरा) को तत्कालीन संसार के लोकप्रसिद्ध राजाओं में गिनकर उनकी एक आदर्श-शासक-रूप में मुक्तकंठ से प्रशंसा लिखी है।[४] यह अमोघवर्ष जैनाचार्य जिनसेन जी के शिष्य थे और अन्त में स्वयं जैनमुनि हो गये थे।[५] इसी

१ Journal of the Bihar & Orissa Res: Soc:, I pp. 79—81 & Vol. XIII p. 245.

२ Early History of India, p. 154 & संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग २ खण्ड १ पृ० २१८—२३८।

३ Journal ef the Bihar & Orissa Res: Soc:, Vol. XIII, pp. 228—244.

४ Ancient Acctts of India & China, p. 15.

५ Mediaeval Jainism, p. 38.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तरह सम्राट् कुमारपाल पश्चिम भारत में[1] और मुसलमानों के साथ वीरतापूर्वक लड़नेवाला वीर सुहृद्ध्वज पूर्वीय भारत में प्रसिद्ध हुए हैं[2] और यह दोनों ही जैनधर्म के उपासक थे।

किन्तु जैन अहिंसा का सब से अनूठा चमत्कार हमें दक्षिण भारत में देखने को मिलता है। यह मानी हुई बात है कि दक्षिण भारत को यवनों ने सब से पीछे फतह कर पाया था। उस पर भी देश का शासनाधिकार पाकर भी मुसलमान हिन्दुओं के धर्म और संस्कारों को बदलने में उतने सफल नहीं हुए थे जितने कि वह उत्तर भारत में हुए थे। दक्षिण भारत में तो उनके आचार-विचारों और इमारतों पर हिंदुओं का प्रभाव पड़ा था। इसका एक मुख्य कारण दक्षिण भारत में जैनधर्म का बहु प्रसार था—एक दीर्घकाल तक दक्षिण भारत के राजा और प्रजा, दोनों ही जैनधर्म की छत्रछाया में रहे थे। जैनाचार्य नगरों और ग्रामों में घूम-घूम कर जनता को अपने मत पर दृढ़ रखते थे। यही नहीं, वह निर्भीकतापूर्वक मुसलमान बादशाहों के राजदरबारों में पहुंचते थे और उन्हें धर्मोपदेश देते थे।[3] यही कारण है कि दक्षिण भारत में जैन धर्म को माननेवाले इतने अधिक वीर योद्धा, सेनापति और नृपगण हुए हैं कि इस छोटे-से लेख में उनके नामों की सूची लिखना भी कठिन है। बालक-सेनापति विष्णु और वीराङ्गना माचिकव्वे जैसे युवक वीर और युवती वीराङ्गनायें भी अनेक हुई हैं। उनके जीवन जैन अहिंसा का महत्त्व स्थापित करने के लिये चमकते हुए तारे हैं - उनके चरित्रों को पढ़ कर किसकी सामर्थ्य है कि जो जैन अहिंसा पर कायरता सिरजने का झूठा लाञ्छन लगा सके ? केवल आवश्यकता है उन जीवन-ज्योति और जागृति को सिरजनेवाले स्फूर्तिदायक चरित्रों को प्रकाश में लाने की ! अहिंसा के उपासक उन वीरवरों की गाथाएँ हमारे जीवन को समुज्ज्वल बनाये विना रुक नहीं सकेंगी और उनसे उन लोगों की हृदय-कालिमा भी धुल जायगी जो अहिंसा में वीरता का आभाव देखते हैं। सच्ची वीरता तो जैन अहिंसा में ही गर्भित है !

अब प्रश्न यह शेष रहता है कि आखिर भारत का पतन किस कारण से हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय इतिहास के अनुशीलन से ठीक-ठीक मिल सकता है। वस्तुतः महाभारतकाल से भारत में पारस्परिक अहम्मन्यता, अनैक्य और अविश्वास की ऐसी जड़ पड़ी थी कि चन्द्रगुप्त आदि नरपुंगवों के लाख प्रयत्न करने पर भी उसका अन्त न हो सका। पंचाब में सिकन्दर किन्हीं भारतीय नरेशों की अहम्मन्यता और अविश्वास के कारण ही घुसने में सफल हुआ था। यदि अश्वक, मल्लव, अक्षयद्रक और शिबि क्षत्रियों की भांति

१ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २, खंड २, पृ० १२६—१३३।
२ सं० जै० इ०, भा० २, खंड २, पृ० १४६।
३ जैनसिद्धान्त-भास्कर, भा० ५, पृ० १३५—१४५।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पौरव आदि राजाओंने देशभक्ति का परिचय दिया होता तो सिकन्दर पंजाब में आ ही नहीं पाता ! सिकन्दर की मुठभेड़ सब से पहले अश्वक क्षत्रियों से हुई थी—उन्होंने एक वीर के समान उस विश्वविजेता से मोरचा लिया था; परन्तु वह थोड़े से वीर कब तक उसके सामने टिके रहते ? पंजाब के लोगों ने उनकी विपत्ति सुनी और झटपट एक हजार चुने हुये योद्धा उनकी सहायता के लिये भेजे; परंतु वे सब के सब यूनानी विजेता के हाथ से वीरगति को प्राप्त हुए।[1] यूनानी सेना के संगठित और व्यवस्थित आक्रमण के सामने वह अधिक न टिक सके। उस पर यदि तक्षशिला के राजा ने उनका साथ दिया होता तो शायद इस संग्राम का यह रूप न होता; परंतु वह अपने स्वार्थ में बह गया और सिकन्दर के पास पहले से ही संधि की सूचना भेज बैठा था। जब सिकन्दर आगे बढ़ा तो तक्षशिला के राजा ने उसका स्वागत किया। स्वयं एक हिन्दू नरेश हिन्दुस्तान की अजेयता को नष्ट करने पर तुल पड़ा।[2] बताइये इसमें दोष किसका था ? तक्षशिला का नरेश जैन अहिंसा का उपासक नहीं था—वह अपने स्वार्थ में अंधा हो रहा था और उसे देशद्रोही बनते विलम्ब न लगा ! सिकन्दर के साथ हो कर वह अन्य हिंदू राजाओं के विरुद्ध लड़ा। पुष्कलावती का दुर्ग भी दो भारतीय सरदारों के विश्वासघात के परिणामस्वरूप सिकन्दर के हाथ लगा।[3] ऑरन (Aornos) के अजेय दुर्ग का मार्ग भी एक बुड्ढे हिन्दू ने ही सिकन्दर को बताया था।[4] भारत से निर्वासित किया गया शशिगुप्त नामक एक क्षत्रिय सिकन्दर के साथ था। सिकन्दर को उससे भी पर्याप्त सहायता मिली थी। सिकन्दर ने ऑरन दुर्ग का शासकपद शशिगुप्त को प्रदान किया था।[5] उपरान्त झेलम प्रदेश का शासक पुरुराज (Poros) वीरतापूर्वक यूनानियों से लड़ा था, परंतु स्वयं उसका ही भतीजा और अन्य सम्बन्धी सिकन्दर से जा मिले थे। आखिर उसने भी सिकन्दर के आगे घुटने टेक दिये। इतना ही नहीं बल्कि यूनानियों को अन्य हिंदू राजाओं को जीतने में उसने सहायता दी।[6] अभिसार क्षत्रियों (Abisares) ने भी देश के साथ यही विश्वासघात किया।[7] इस तरह स्वयं हिंदुओं की सहायता से यूनानी पंजाब में अधिकारी बन बैठे थे; परंतु हम पहले लिख चुके हैं कि जैनवीर चन्द्रगुप्त ने उनको भारत से मार भगाया था।

१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, भा० १, पृ० ३५३।
२ पूर्व० पृष्ठ ३३१ व ३५०।
३ मैकक्रडिल, ऐंशियेन्ट इण्डिया, पृ० ७२।
४ पूर्व पृ० १६७।
५ पूर्व पृ० ७६।
६ पूर्व पृ० ११४।
७ पूर्व पृ० ११२।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यूनानियों के बाद भारत पर शकों और हूणों के आक्रमण हुए थे और अभागे भारत को इस मरतबा भी अपने ही विश्वासघाती कपूतों के हाथों पराधीनता के बन्धन में पड़ना पड़ा था। निस्सन्देह शकों और हूणों के समय का व्यवस्थित और प्रामाणिक वर्णन अनुपलब्ध है, परन्तु यह स्पष्ट है कि शक राजा अन्तिक्ष (Antiochos III) का एक सौभाग्यसेन नामक भारतीय सरदार ही उसका सहायक हुआ था। और जब हूणों ने आक्रमण किया तब उत्तरभारत में भानुगुप्त नामक राजा राज्य कर रहा था। उसके दो प्रांतीय शासक धन्यविष्णु और मातृविष्णु भाई-भाई थे। ज्यों ही उन्होंने हूणों को आया देखा वह झट से हूणों में जा मिले, जिन्होंने उनको राजा बना दिया। उनका एक भाई गोपराज अवश्य हूणों से लड़ा, परंतु यह व्यर्थ था। हूण तोरमाण दो भारतीयों के विश्वासघात की बदौलत भारत का शासनाधिकारी हुआ।१ यह उस समय की बात है जब भारत में गुप्तवंशीय सम्राटों द्वारा वैदिक धर्म काफी उन्नत हो चुका था और जैनधर्म जहाँ-तहाँ ग्रामीण जनता और वैश्यों में देखने को मिल रहा था। अब ज़रा सोचिये पाठक कि भारत के पतन का मूल कारण क्या था?

उपरान्तकाल में तो राष्ट्रहित का बलिदान अपने निजी स्वार्थ के लिये भारतीयों ने खूब ही किया! महमूद ग़ज़नी के आक्रमण के साथ हिंदुओं की दुर्दशा चरमसीमा को पहुंच गई। मुलतान में राजा शंकरपाल को महमूद ने इस्लाममत में दीक्षित करके उसे वहाँ का राजा बनाया। इसी तरह वरन का राजा अपने दो हजार साथियों के साथ मुसलमान हुआ। और मज़ा यह कि कन्नौज के प्रतिहार राजा राजपाल ने भी चुपचाप महमूद का अनुशासन स्वीकार कर लिया। राष्ट्र के मान-अपमान का ध्यान इनको जरा भी न हुआ—यह सब अपने निजी स्वार्थ में बह गये! उधर लाहोर के राजा आनन्दपाल की कृतघ्नता का क्या कहना! आनन्दपाल के पिता भारत की स्वाधीनता के लिये मर मिटे थे—उन्होंने अपने अमूल्य प्राण भारत पर न्योछावर कर दिये थे। स्वयं आनन्दपाल ने पहले महमूद के छक्के छुड़ा दिये थे। किन्तु थानेश्वर के आक्रमण से उसका दिल बदल गया—उसने भी अपना उल्लू सीधा किया और महमूद को भारत की विजय करने में हरतरह की मदद पहुंचाई!२

इस प्रकार विज्ञपाठक समझ सकते हैं कि भारत के पतन का कारण जैनधर्म नहीं है; बल्कि उसके पतन का कारण स्वयं भारत के कुछ कुपूतों की अहम्मन्यता और स्वार्थपरता है। यदि वे लोग विदेशियों का साथ न देते तो कोई कारण नहीं था कि भारत अपना राज्य खो बैठता! आज फिर उसी अनैक्य और अविश्वास को प्रोत्साहन देना अहितकर है।

---

१ इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली, भाग १३, पृ० ६३६।

२ पूर्व० भाग १३, पृ० ६३८—६३६।

प्रस्तुत लेख का अंतिम भाग लिखने में इ० हि० क्वार्टर्ली (भा० १३) में प्रकाशित श्रीकृष्ण-कुमार जी के लेख से सधन्यवाद साहाय्य ग्रहण किया गया है। —का० प्र०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं ?

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री विद्याभूषण]

गत वर्ष 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला' बंबई की ओर से प्रकाशित आचार्य प्रभाचन्द्र के 'न्यायकुमुदचन्द्र' की पाण्डित्य-पूर्ण प्रस्तावना में मित्रवर श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने कतिपय अन्य विद्वानों के साथ-साथ वादीभसिंह को भी अकलंकदेव के समकालीन सिद्ध किया है×। वास्तव में वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं या नहीं इस बात पर प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का ध्येय है। यद्यपि 'भास्कर' भाग २, किरण २ में "विदुषी पंपा देवी" शीर्षक लेख में इन्हों वादीभसिंह के समय पर कुछ प्रकाश मैं डाल चुका हूं। बल्कि इसमें जो अस्पष्टता रह गई थी उसे 'भास्कर' भाग २, किरण ४ में मुद्रित "गत प्रथम एवं द्वितीय किरणों में प्रकाशित अपने लेखों के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य" शीर्षक दूसरे एक लघु लेख में मैंने खुलाशा कर दिया था। फिर भी इस लेख में मैं उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत विषय की कुछ विशेष अभिव्यक्ति करना चाहता हूं।

सर्व-प्रथम मैं मित्रवर शास्त्री जी के द्वारा उक्त प्रस्तावना में वादीभसिंह को अकलंकदेव के समकालीन सिद्ध करने के लिये दी गयी दलीलों पर नीचे क्रमशः विचार करूंगा।

(१) "श्रीपुष्पषेणमुनिरेव पदं महिम्नो देवः स यस्य समभूत(त्) स महान् सधर्मा।
श्रीविभ्रमस्य भवनं ननु पद्ममेव पुष्पेषु मित्रमिह यस्य सहस्रधामा॥"

"इस श्लोक में पुष्पषेण मुनि को अकलंक का सधर्मा अर्थात् गुरुभाई बतलाया है। संभवतः यह पुष्पषेण मुनि वही हैं जिन्हें गद्यचिन्तामणि के प्रारंभ में वादीभसिंह ने अपना गुरु बतलाया है।"

उल्लिखित श्रवणबेल्गोल के मल्लिषेण-प्रशस्ति-गत श्लोक के आधार पर शास्त्री जी ने पुष्पषेण मुनि को अकलंकदेव का समकालीन मानकर इन्हीं को ऊपर वादीभसिंह का गुरु अनुमान किया है। किन्तु इस लेख में आगे दिये जाने वाले शिलालेखीय पुष्ट प्रमाणों से वादीभसिंह अकलंकदेव से कई शताब्दियों के बाद के सिद्ध होते हैं। अतः मल्लिषेण-प्रशस्ति में प्रतिपादित अकलंक का सहाध्यायी पुष्पषेण मुनि वादीभसिंह के गुरु कदापि नहीं हो सकते। प्रशस्ति-गत पुष्पषेण मुनि गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंह के द्वारा गुरुरूप से स्मृत पुष्पषेण मुनि से कोई अन्य ही पुष्पषेण होना चाहिये।

× देखें—प्रस्तावना पृष्ठ १११ में 'समकालीन विद्वान्' शीर्षक।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एक नाम के अनेक व्यक्तियों का होना जैनसमाज में कोई अनोखी बात नहीं है। बल्कि स्मारक-रूप में अपने पूर्वजों का ही नाम रखना समुचित समझा जाता है। साहित्यिक पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि इस नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। संभव है कि अकलंक के सधर्मा पुष्पषेण मुनि श्रवणबेल्गोल के लेख नं० २१२ में प्रतिपादित अ० शक सं० ६२२ के नविलूर संघ के आचार्य पुष्पसेन हों।

(२) "वादीभसिंह की गद्य-चिन्तामणि में बाण की कादम्बरी की झलक मारती है अतः वादीभसिंह को राजा हर्ष (६१०—६५०‡) के समकालीन बाण कवि के पश्चात् का विद्वान् मानना होगा। यह समय अकलंकदेव के निर्द्धारित समय के सर्वथा अनुकूल बैठता है, क्योंकि अकलंक के समकालीन पुष्पषेण का समय ई० ६२० से ६८० तक मानने पर उनके शिष्य वादीभसिंह को ६५० के बाद ही रखना होगा।"

वादीभसिंह को अकलंकदेव के समकालीन सिद्ध करने के लिये दी गई शास्त्री जी की इस दूसरी युक्ति से भी वादीभसिंह अकलंकदेव के समसामयिक सिद्ध नहीं होते। ११ वीं या १२ वीं शताब्दी में होने वाले वादीभसिंह भी ७ वीं शताब्दी में होनेवाले बाण की कादम्बरी का अनुकरण मजे में कर सकते हैं। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।

(३) "आदिपुराणकार जिनसेन स्वामी ने वादिसिंह नाम के एक आचार्य का स्मरण निम्न शब्दों में किया है—

"कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित(त्व)स्य परं पदम्।
गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिसिंहोऽर्च्यते न कै : ॥"

इस से प्रतीत होता है कि वादिसिंह बड़े भारी कवि और उत्कृष्ट वाग्मी थे। अपने पार्श्वनाथचरित के प्रारंभ में वादिराज ने भी वादिसिंह का स्मरण इस प्रकार किया है—"स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिसिंहस्य गर्जिते। दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्त्तिभङ्गो न दुर्घटः॥" इस श्लोक में बौद्धाचार्य दिङ्नाग और कीर्त्ति (धर्मकीर्त्ति) का ग्रहण करके वादिसिंह को उनका समकालीन बतलाया है। प्रेमी जी का मत है कि वादीभसिंह और वादिसिंह एक ही व्यक्ति हैं। यदि यह सत्य है तो इन उल्लेखों से वादीभसिंह के सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विद्वान् होने में कोई सन्देह शेष नहीं रह जाता। और उस दशा में उन्हें अकलंक का समकालीन मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।"

शास्त्री जी की यह तीसरी युक्ति भी प्रबल नहीं है। श्रीयुत प्रेमी जी के कथनानुसार आपने जो वादिभसिंह एवं वादिसिंह इन दोनों को अभिन्न व्यक्ति मान लिया है, यह ठीक

‡ मि० वी० ए० स्मिथ एवं डा० ईश्वरी प्रसाद के मत से राजा हर्ष का काल ६०६—६४७ है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नहीं है। वास्तव में ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। 'प्रमाण-नौका' 'तर्कदीपिका' और 'धर्मसंग्रह' इन ग्रन्थों के रचयिता वादिसिंह वादीभसिंह से सर्वथा भिन्न हैं।*

हां, इन वादिसिंह को दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के समकालीन ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विद्वान् मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु वादीभसिंह ७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के विद्वान् कदापि नहीं हो सकते हैं।

अब वादीभसिंह के काल-सम्बन्धी जटिल प्रश्न को हल करने के लिये पहले कतिपय प्राचीन शिलालेख ज्यों के त्यों विज्ञ पाठकों के सामने उपस्थित कर दिये जाते हैं। ये लेख श्रीमान् ब्र० शीतल प्रसाद जी के द्वारा संगृहीत एवं अनुवादित "मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैनस्मारक" से उद्धृत हैं। इनके मूल लेख इस समय मेरे सामने नहीं हैं। यद्यपि अपरिचित होने के कारण इन लेखों में दक्षिण प्रान्त के कुछ नामों में जहां-तहां रूपान्तर हो गया हैं अवश्य; फिर भी एकाध को छोड़कर और लेखों का अनुवाद तो ठीक ही होगा। अगर कहीं भाव में फर्क पड़ गया हो—क्योंकि लेख नं० ३७ का अनुवाद स्व० नरसिंहाचार्य के मत से भ्रमात्मक है—तो भी इस प्रस्तुत विषय के प्रमाण में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता है। ये लेख निम्न प्रकार हैं:—

(१) "नं० ४० सन् १०७७ मानस्तंभ पर। चट्टल देवी ने कमलभद्र पंडितदेव के चरण धो कर भूमि दी। पंचकूट जिनमन्दिर के लिये विक्रम सांतरदेव ने अजितसेन पंडितदेव के चरण धो कर भूमि दी।" (मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ ३२०)

नोट—यह लेख पोम्बुच्च में पाया गया है।

(२) "नं० ३ सन् १०९० के करीब। कोप्प ग्राम। इस स्मारक को अपने गुरु मुनि वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मार सांतरवंशी ने स्थापित किया। यह जैन आगमरूपा समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा-समान था। ....." (मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २९१)

(३) "नं० १९२ सन् ११०३। चालुक्य त्रिभुवनमल्ल के राज्य में उग्रवंशी अजबलि सान्तर ने पोम्बुच्च में पंचबस्ति बनवायी। उसी के सामने अनन्दूर में चट्टल देवी और त्रिभुवनमल्ल सान्तरदेव ने एक पाषाण की बस्ति श्रीद्रविलसंघ अरुंगलान्वय के अजितसेन पंडितदेव वादिघरट्ट के नाम से बनवाई।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ ३२५)

नोट—यह लेख तीर्थहल्लि में पाया गया है।

* देखें—'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' पृष्ठ २६। यद्यपि इसी ग्रन्थ-सूची के ३८ वें पृष्ठ में वादिसिंह का पुनः उल्लेख कर इनकी प्रमाण-नौका एवं धर्मरत्नाकर नाम की दो और कृतियों का उल्लेख किया गया है। प्रमाण-नौका तो पृष्ठ २६ की कृति है ही। धर्मरत्नाकर भी प्रायः पृष्ठ २६ का पूर्वोक्त धर्मसंग्रह ही होगा। ज्ञात होता है कि भ्रम से परिशिष्ट में ये दोनों ग्रन्थ दुबारा लिख दिये गये हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(४) "नं० ८३ सन् १११७ ई० चामराज नगर में श्रीपार्श्वनाथ-बस्ति में एक पाषाण पर। जब द्वारावती (हलेबीडु) में वीरगंग विष्णुवर्द्धन बिट्टिग होय्सलदेव राज्य करते थे तब उनके युद्ध और शान्ति के महामन्त्री चाव और अरसिकब्बे-पुत्र पुनीश राजदण्डाधीश था। यह श्रीअजितमुनिपति का शिष्य जैन श्रावक था तथा यह इतना वीर था कि इसने टोड को (?) भयवान् किया, कोंगों को भगाया, पल्लवों का वध किया, मलयालों का नाश किया, कालराज को कम्पायमान किया तथा नीलगिरि के ऊपर जाकर विजय की पताका फहराई .....।

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ १८६)

(५) "नं० १०३ सन् ११२० करीब। सुकदरे (?) ग्राम में लक्कम्म मन्दिर के सामने पाषाण पर। माता एचले के पुत्र अत्रेयगोत्री जक्कि सेट्टि ने अपने सुकदरे ग्राम में एक जिनालय बनवाया व उसके लिये एक सरोवर भी बनवाया तथा श्रीदयापालदेव के चरण धोकर भूमि दान की। इसके गुरु अजितमुनिपति थे जो द्रविलसंघ में हुए; जिसमें समन्तभद्र, भट्टाकलंक, हेमसेन, वादिराज व मल्लिषेण मलधारी हुए।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २०२)

(६) "नं० १००, ११४५ ई० ग्राम बोगदि में ध्वंश जैनमन्दिर के पास एक पाषाण पर। राजा विष्णुवर्द्धन के राज्य में उनका बड़ा मंत्री हिसाब करने वाला माधव या मादिराज था। यह श्रीअजितसेन भट्टारक का शिष्य जैन श्रावक था।..... अजितसेन योगीश्वर यह बड़े योगी थे।....." (मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २०२)

(७) "नं० ३७ सन् ११४७ तोरण बागिलु के उत्तर खंभे पर। जगदेकमल्ल के राज्य में राजा तैलसांतर जगदेकदानी हुए। भार्या चट्टल देवी। इनके पुत्र श्री वल्लभराज या। विक्रम सांतर त्रिभुवनदानी, पुत्री पंपादेवी थी। पंपादेवी महापुराण में विदुषी थी। ..... पंपादेवी ने अष्टविधार्चन, महाभिषेक व चतुर्भक्ति रचीः। यह द्रविल-संघ, नन्दिगण, अरुंगलान्वय, अजितसेन पंडितदेव या वादीभसिंह की शिष्या श्राविका थी। पंपा देवी के भाई श्रीवल्लभराज ने वासुपूज्य सि० देव के चरण धोकर दान किया।" (मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ ३१९)

नोट—यह शिलालेख पोम्बुच्च में पाया गया है।

(८) "नं० १३० करीब सन् ११४७ ई० इस बस्ति के द्वार पर। श्री अजितसेन भट्टारक का शिष्य बड़ा सरदार पर्मादि था। उसका ज्येष्ठ पुत्र भीमय्य, भार्या देवल थे। उनके

‡ स्व० आर० नरसिंहाचार्य का कहना है कि अष्टविधार्चन, महाभिषेक और चतुर्भक्ति रचनायें नहीं हैं, बल्कि सेवायें हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दो पुत्र थे—मसन सेट्टि और मारि सेट्टि। मारि सेट्टि ने दोरसमुद्र में एक उच्च जैन मन्दिर बनवाया।.....".....(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २७३)

नोट—यह लेख मुगुलूर ग्राम में पाया गया है।

(९) "नं० १ सन् ११६९ ई० ग्राम वन्दियर (?) में जैन बस्ति के पाषाण पर। इस समय होय्सल बल्लालदेव दोरसमुद्र में राज्य कर रहे थे। यहां मुनि-वंशावली दी है। श्रीगौतम, भद्रबाहु, भूतबलि, पुष्पदन्त, एकसन्धि, सुमति भ०, समन्तभद्र, भट्टाकलंकदेव, वक्रग्रीवाचार्य, वज्रनन्दि भट्टारक, सिंहनन्द्याचार्य, परवादिमल्ल श्रीपालदेव, कनकसेन, श्रीवादिराज, श्रीविजयदेव, श्रीवादिराजदेव, अजितसेन पंडितदेव ...."

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २७९)

नोट—इसमें आचार्यों की नामावली कालक्रम से नहीं दी हुई है। यह त्रुटि अन्यान्य लेखों में भी पायी जाती है। मालूम होता है कि लेखक ने छन्दोबद्ध करने के लिहाज से क्रमभंग की ओर ध्यान नहीं दिया होगा।

(१०) "तालूक नंजनगूड़, ग्राम तगदूरु (?) चन्न-केशव-मन्दिर के बाहर भीत में एक खंभ पर। नं० १३३ सन् ११७० ई० द्रविल संघ में नन्दि-संघ के अरुंगलान्वय के श्रीमुनि अजितसेनदेव आचार्य हुए—

श्रीमद्रमिलसंघेऽस्मिन् नन्दिसंघेऽस्त्यरुंगलः।
अन्वयो भाति निःशेषशास्त्रवाराशिपारगैः॥
...अजितसेनमुनिपो हि आचार्यतां प्राप्तवान्।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ १७६)

उपर्युक्त १० शिलालेखों में सब से पहला १०७७ का एवं सब से पीछे का ११७० का है। इन दोनों लेखों का अन्तर ९३ वष का होता है। यदि इन लेखों में प्रतिपादित सभी अजितसेन को एक ही व्यक्ति मान लिया जाय तो कम से कम इस ९३ में २० वर्ष और जोड़ने होंगे। क्योंकि इन्हें विद्याध्ययन कर प्रसिद्धि प्राप्त करने में इतना समय लगना वाजिब है। ऐसी दशा में लगभग ११३ वर्ष या दो वर्ष अधिक या कम अजितसेन का जीवनकाल मानना पड़ेगा। जैन मुनियों के दीर्घ जीवनकाल को—उसमें भी आठ सौ वर्ष के पूर्व के मनुष्य की दीर्घकालीन आयु को ध्यान में रखते हुए यह इनका लम्बा काल खटकना नहीं चाहिये। कुछ भी हो, यह अनुमान करना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि यह अजितसेन या वादीभ-सिंह ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं १२वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के विद्वान् थे। इसमें किसी का मत-भेद नहीं होना चायिये। बल्कि पुरातत्त्व के प्रामाणिक विद्वान् एवं जैन साहित्य के प्रगाढ़ प्रेमी स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का भी यही मत है। हाँ, एक बात है कि उल्लिखित इन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शिलालेखों में से सन् १०७७ के प्रथम लेख से वादीभसिंह की उपस्थिति पोम्बुच्च में स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि उसमें साफ-साफ लिखा हुआ है कि "पंचकूट जिन-मन्दिर के लिये विक्रम सान्तरदेव ने अजितसेन पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी"। अब सन् १०९० के द्वितीय लेख में यह लिखा है कि "इस स्मारक को अपने गुरु वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मार सांतरवंशी ने स्थापित किया"। आगे कोई ऐसा लेख नहीं है जिससे इन वादीभसिंह की उपस्थिति स्पष्ट प्रमाणित होती हो। अत एव संभव है कि कोई-कोई १०९० तक ही वादीभसिंह के जीवन-काल की मर्यादा मानकर १०९० के बाद के लेखों को इनका स्मृति-लेख मान लें। पर जीवनकाल में भी भक्तों के द्वारा अपने माननीयों का स्मारक बनवाना लोक-विरुद्ध बात नहीं है। बल्कि आजकल भी इसके एक नहीं अनेक दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह सिद्ध करना मेरा अभीष्ट नहीं है कि वादीभसिंह के ये स्मारक इनके जीवन-काल में ही स्थापित हुए थे। फिर भी इससे वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध ही सिद्ध होता है न कि शास्त्री जी के कथनानुसार ७ वीं शताब्दी।

उल्लिखित लेखों में वादीभसिंह को कहीं अजितसेन पण्डितदेव, कहीं वादीभसिंह अजितसेन दोनों, कहीं अजितसेन पण्डितदेव वादिधरट्ट, कहीं अजित मुनिपति, कहीं अजितसेन भट्टारक एवं कहीं मुनि अजितसेनदेव आचार्य लिखा है। साथ ही साथ इन नामों के साथ संघ-अन्वय आदि सभी जगह नहीं कहा गया है। फिर भी मेरे जानते इन सब नामों को वादीभसिंह के ही वाचक मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि इतने अल्प अन्तर में दो अजितसेन होने की संभावना कम है। साथ ही साथ शिलालेख के लेखन-क्रम को देखते हुए भी हमें एक ही व्यक्ति मानने को बाध्य होना पड़ता है।

अब पता लगाना है कि वादीभसिंह के इस निर्धारित काल के बीच में इनके श्रद्धेय गुरु उल्लिखित मुनि पुष्पषेण का भी कहीं उल्लेख मिलता है। पुष्पषेण मुनि को प्रकाश में लानेवाले करीब सन् १११७, ११२५ और ११६९ के हमें तीन शिलालेख मिलते हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

(१) "नं० १३१ सन् १११७(?) वहीं द्रविलसंघ नन्दिसंघ अरुंगलान्वय के पुष्पसेन सिद्धान्तदेव के शिष्य वासुपूज्यदेव ने समाधि-मरण किया।" (मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २७४)

नोट—यह लेख हासन जिला के मुगुलूर ग्राम में जैनबस्ति के द्वार पर पाया गया है। बल्कि वहीं पर इसी संघ एवं अन्वय के अजितसेन भट्टारक-सम्बन्धी एक दूसरा लेख भी मौजूद है जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

(२) नं० ४९२ शक सं० १०१५ सन् ११२५ "·····आ-पुष्पसेन सिद्धान्तदेवरिं बलिक·····।"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नोट—यह लेख श्रवणबेल्गोल में है और यह विष्णुवर्द्धन होय्सलदेव के द्वारा मन्दिरों के जीर्णोद्धार एवं मुनियों के आहार-दान के लिये द्रविलसंघ अरुंगलान्वय के आचार्य श्रीपाल त्रैविद्यदेव *को शल्य नामक ग्राम जो दान दिया गया था, उसी का स्मारक है।* इसमें द्रविलसंघ की विस्तृत गुरु-परम्परा दी गयी है जिसमें पुष्पसेन भी शामिल हैं।

(३) "नं० १ सन् ११६९ ई० ग्राम वन्दियर में जैनबस्ति के पाषाण पर। इस समय होय्सल बल्लालदेव दोरसमुद्र में राज्य कर रहे थे। यहाँ मुनि-वंशावली दी है। श्री-गौतम, भद्रबाहु, भूतबलि,.....यहाँ वादिराज और शंकरदेव ने श्रीपार्श्वदेव का मन्दिर बनवाया, जिस की प्रतिष्ठा पुष्पसेनदेव ने की। व अष्टविधपूजा के लिये श्रीवासुपूज्य सिद्धान्तदेव के चरण में भूमि भेंट की, जिसको उन्होंने वृषभनाथ पण्डित के सुपुर्द की।"

(मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २८०)

नोट—यह लेख अरसीकेरे तालुक में पाया गया है। बल्कि ऊपर यह लेख अंकित किया जा चुका है। इसमें भी अजितसेन पण्डितदेव का उल्लेख है।

उल्लिखित इन लेखों में प्रतिपादित पुष्पसेन को ही वादीभसिंह के गुरु नहीं माना जा सकता? पहली बात तो यह है कि ये तीनों व्यक्ति एक ही संघ, गण एवं अन्वय के हैं और दूसरी बात यह है कि उल्लिखित तृतीय लेख से सन् ११६९ में पुष्पसेन की उपस्थिति स्पष्ट सिद्ध होती है। ऐसी दशा में इन दोनों का गुरु-शिष्य एवं सम-सामयिक मानने में कोई भी ऐसा प्रबल बाधक हेतु नज़र नहीं आता। हाँ, एक शंका उठाई जा सकती है कि वादीभसिंह का जन्म जब सन् १०७७ से करीब २० वर्ष पहले मानते हैं तब इनके गुरु पुष्पसेन का जन्म उससे भी पहले मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में सन् ११६९ तक का समय इनके लिये बहुत लम्बा हो जाता है। अतः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय लेख में प्रतिपादित पुष्पसेन एक व्यक्ति नहीं माने जा सकते हैं। परन्तु समवयस्क दो व्यक्ति भी गुरु-शिष्य हो सकते हैं। बल्कि मेरा यह भी अनुमान है कि पुष्पसेन वादीभसिंह के विद्या-गुरु नहीं थे; किन्तु दीक्षा-गुरु। अन्यथा इनकी कोई कृति मिलती और साहित्य-संसार में इनकी भी ख्याति होती। मगर साहित्य-संसार में ही नहीं यों भी वादीभसिंह की जितनी ख्याति हुई है उतनी इनके गुरु पुष्पसेन की नहीं हुई अनुमित होती है। इसके उपर्युद्धृत शिलालेख ही समुज्ज्वल दृष्टान्त हैं। वादीभसिंह राज-सन्मानित थे और कई उच्च राजपदाधिकारी भी इनके कट्टर भक्त थे। मैं समझता हूं कि खास कर पोम्बुच्च के सान्तर वंश के शासक एवं उनके प्रधान राज-कर्मचारी वादीभसिंह को बहुत मानते थे। यह बात भी उल्लिखित लेखों से ही स्पष्ट प्रमाणित होती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए गुरु पुष्पसेन को वादीभसिंह के व्रतगुरु एवं समवयस्क मानना मेरे ख़याल से कोई अनुचित नहीं है। आजकल के मुनिसंघों में भी ऐसे-ऐसे उदाहरण हमें कई मिल जाते हैं। अगर पुष्पसेन को वादीभसिंह के दीक्षा-गुरु

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मानते हैं तब सोमसेन सूरि की "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः, श्रीवादिराजोऽपि मदीय-शिष्यः।" यह उक्ति यों ही उपेक्षणीय नहीं है। संभव है कि सोमसेन सूरि इनके विद्या-गुरु रहे हों। हाँ अपनी कृतियों में इनका उल्लेख नहीं मिलना अवश्य खटकता है। संभव है कि कोई ऐसा प्रबल हेतु रहा हो जो इस समय इसका पता लगाना हम सबों के लिये असम्भव सा हो गया हो। आजकल भी कुछ शिष्य ऐसे मिलते हैं, किसी कारण से—दोनों में से किसी एक के प्रमाद से - जब इन दोनों में मनोमालिन्य हो जाता है तब शिष्य अपने गुरु का नाम जान-बूझ कर नहीं उल्लेख करता है। जो कुछ हो परोक्ष विषय में बलिष्ठ प्रमाणों के अभाव में ऊहापोह तथा अटकलबाजी के सिवा और किया ही क्या जा सकता ? परन्तु इस संभवपरक ऊहापोह को ही सिद्धान्त मान लेना समुचित नहीं है। हाँ, भविष्य की खोज के लिये यह भी एक अन्यतम साधन बन सकता है।

अब वादीभसिंह के संघ, अन्वय, स्थान एवं नाम आदि के सम्बन्ध में भी मैं कुछ अपना विचार उपस्थित कर देना अनुचित नहीं समझता। वादीभसिंह विख्यात जैन महाकवियों में से हैं। इनकी 'गद्यचिन्तामणि' और 'क्षत्रचूड़ामणि' ये दोनों काव्य काफी प्रसिद्ध हैं। बल्कि क्षत्रचूड़ामणि तो एक खासा नीति-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। प्रायः प्रत्येक श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभीष्ट चरित्रांश और उत्तरार्द्ध में उसे पुष्ट करने के लिये नीति कही गयी है। नीति का पुट देकर इन्होंने चरित्रांश को बहुत ही रोचक बनाया है। दूसरी गद्य-चिन्तामणि भी काव्योचित माधुर्य आदि अनेक प्राञ्जल गुणों से विशिष्ट एक महत्त्वपूर्ण गद्य-काव्य है।

वादीभसिंह के अजितसेन, वादीभसिंह और ओडेयरदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा अनुमान है कि इनमेंसे ओडेयरदेव जन्म-नाम, अजितसेन दीक्षा-नाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित उपाधि है। यों तो वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात सा है; फिर भी इनका ओडेयरदेव नाम, मद्रास प्रान्तान्तर्गत तामिल (तमिलु) प्रदेश के पोलूरु तालुक के तिरुमलै स्थान में विद्यमान समाधि-स्थान, द्रविल, या द्राविड़-संघ एवं अरुंगल अन्वय ये चारो इन्हें तामिल प्रान्तीय सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। मद्रास प्रान्तान्तर्गत तामिल-प्रान्त का नाम द्राविड़ प्रसिद्ध है ही। साथ ही साथ कई जैन, जैनेतर पुरातत्व-विशारद यह प्रकट कर चुके हैं कि जैनमुनियों में प्रचलित संघ, गण एवं शाखा आदि किसी आचार्य या स्थान के ही द्योतक हैं। जैसे स्थान के लिये—माथुरसंघ, नावलूरसंघ, कित्तूरसंघ, कोलत्तरसंघ, देशीयगण, एवं हनसोगे शाखा आदि। अतः वादीभसिंह के द्रविल संघ से द्राविड़ अर्थात् तमिल प्रदेश मानना कोई अनुचित नहीं कहा जा सकता। अब इनके अरुंगल अन्वय को लीजिये। यह अरुंगल नाम तामिल प्रान्त के गुडियपत्तन तालुक में स्थित 'अरुंगलम्' नामक स्थान की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करता है। यह एक बहुत प्रसिद्ध एवं प्राचीन स्थान है। आज भी यहां पर

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

धर्मतीर्थंकर का एक भव्य मन्दिर मौजूद है। इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता कि वादीभसिंह का जन्म एवं समाधि तामिल प्रान्त में हुई थी। हाँ, मालूम होता है कि इनका बहुभाग जीवन मैसूर प्रान्त में बीता था और मैसूर प्रान्तान्तर्गत पोम्बुच्च ही इनका प्रधान निवास रहा।

हाँ, एक बात याद आ रही है। ऊपर उद्धृत शिलालेखों में जिन लेखों में अजितसेन इस नाम के साथ 'भट्टारक' शब्द आया है उन लेखों में प्रतिपादित अजितसेन को वादीभसिंह न मानकर इस नाम के किसी दूसरे मठाधीश को मानने को शायद कुछ व्यक्ति तैयार हो जायें। परन्तु प्राचीन काल में 'भट्टारक' यह शब्द केवल मठाधीशों के लिये ही प्रयुक्त न हो कर यह एक आदरसूचक शब्द होने से जिनसेन* जैसे बड़े-बड़े आचार्य एवं राजा महाराज तक भी इस विशेषण से स्मरण किये गये हैं—इस बात को उन्हें अवश्य ध्यान में रखना चाहिये।

"संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" के विज्ञ लेखकों का कहना है कि "भोज राजा (ई० १०१८ ५५) के समकालिक कालिदास का एक वचन "अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।" यह इसके (वादीभसिंह के) वचन के सदृश हैं। इसलिये यह भोज का पूर्ववर्ती अर्थात् १०म शतक का माना जाता है।" ज्ञात होता है कि श्रीयुत टी० एस० कुप्पु स्वामी शास्त्रि-द्वारा लिखित 'गद्यचिन्तामणि' की प्रस्तावना ही इनके इस मत का आधार है। मगर मेरे पूर्व कथनानुसार जब वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्विवाद सिद्ध होता है तब वादीभसिंह को १०म शतक का मानना ठीक नहीं है।

एक बात और है। इन वादीभसिंह के उपर्युक्त क्षत्रचूड़ामणि के अन्त में "राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः॥" यह पद्य प्राप्त है। पद्यगत 'राजराज' शब्द अवश्य विचारणीय है। मेरा ख़याल है कि यह श्लेषात्मक शब्द है। इसमें ग्रन्थकर्त्ता ने चरित्र-नायक जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन शासक का भी उल्लेख किया है। यह शासक चोल-वंशी राज-राज हो सकता है। चोल राजाओं में इस नाम (राजराज) के दो व्यक्ति हुए हैं। प्रथम राजराज का समय सन् ९८५ से १०१२ तक का और द्वितीय का सन् ११४६ से ११७८ तक का है। संभवतः वादीभसिंह ने द्वितीय राजराज के शासनकाल में इस काव्य की रचना की हो। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि वादीभसिंह का समाधि-स्थान आज भी तामिल प्रान्तान्तर्गत तिरुमलै में मौजूद है। बहुत कुछ संभव है कि वादीभसिंह अन्तिमावस्था में मैसूर से अपनी जन्मभूमि को लौट आये हों और चोलशासक उक्त राजराज के राज्यान्तर्गत कहीं रह कर इस क्षत्रचूड़ा-

* देखें—मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन-स्मारक पृष्ठ २८१, लेख नं० १६४।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मणि की रचना कर ग्रन्थान्त में इन्होंने तत्कालीन तत्प्रान्तवर्ती शासक इस राजराज का उल्लेख कर दिया हो।

इसमें कोई शक नहीं है कि यह वादीभसिंह केवल एक उच्चकोटि के कवि ही नहीं थे; किन्तु एक उद्भट नैयायिक एवं प्रखर वादी भी थे। संभवतया इन्होंने कोई न्याय-ग्रन्थ भी रचा हो। पर अभी तक इसका कोई पता नहीं लगा है। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि सामान्य श्रावक से लेकर राजा एवं बड़े-बड़े राजकर्मचारी भी इनके एकान्त भक्त थे। श्रवणबेल्गोल के लेख नं० ५४ (६७) में भी इनके दो विद्वान् शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके नाम क्रमशः शान्तिनाथ और पद्मनाभ है। इनमें पहले की उपाधि कविता-कान्त एवं दूसरे की वादि-कोलाहल है। उल्लिखित यह लेख इन्हीं के एक और विद्वान् शिष्य मल्लिषेण मलधारिदेव का समाधिमरण-सूचक है और यह मल्लिषेण-प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है। इस लेख में केवल मल्लिषेण की ही नहीं; इनकी गुरु-परम्परा की भी बड़ी प्रशंसा लिखी मिलती है। इसमें वादीभसिंह एवं इनके शिष्य उक्त शान्तिनाथ और पद्मनाभ की भी काफी तारीफ की गयी है। खोज करने पर इन शिष्यों का भी विशेष परिचय मिलना संभव है।

उल्लिखित लेख में वादीभसिंह की स्तुति-परक कई श्लोक मिलते हैं। पर लेखवृद्धि के लिहाज से वे श्लोक यहां उद्धृत नहीं किये गये। मैं समझता हूं कि वादीभसिंह के बारे में विशेष विमर्श के लिये यह लेख एक साधन समझा जायगा और इनकी कृतियों का अध्ययन करनेवाले छात्रों को भी इससे कुछ सहायता मिलेगी।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अपभ्रंश साहित्य और जैनी !

['साहित्य-भ्रमर' द्वारा संकलित]

भारत की साहित्यिक भाषाओं के नियमित अध्ययन का प्रारंभ मुश्किल से डेढ़ सौ वर्ष पहले से हुआ है। सन् १७८३ में सर विलियम जोन्स की विज्ञप्ति के साथ ही इस शुभकार्य का श्रीगणेश हो गया था। उस समय विद्वानों का ध्यान आकर्षित करनेवाला केवल संस्कृत साहित्य—सो भी उसके काव्य थे। फिर वैदिकधर्म के साहित्य ने काव्यों का स्थान लिया था। किन्तु तब से पचास वर्ष उपरान्त तक प्राकृत साहित्य की ओर विद्वानों की दृष्टि ही नहीं गई थी। इसका कारण यही था कि इस साहित्य के मुख्य संरक्षक जैनी थे, जिन्होंने कलतक अपने साहित्य को प्रकट करने की कोशिश नहीं की थी। सचमुच प्राकृत भाषा में रचना करने का अधिकार प्राचीनकाल से ही जैनियों के हाथों में रहा है—ब्राह्मणों और बौद्धों ने बेशक करीब-करीब इसी तरह क्रमशः संस्कृत और पाली भाषाओं में रचना रचने का अधिकार पा रक्खा था; किन्तु जैनियों के द्वारा प्राकृत भाषा की विशेष उन्नति हुई थी। इसका कारण यही है कि यह भाषा केवल उनकी साहित्यिक भाषा ही नहीं रही बल्कि जैनधर्म की शिक्षा भी इसी भाषा में दी जाती रही है। इसीलिये आज हमें प्राकृत के विविध रूपों के स्पष्ट दर्शन जैन साहित्य में ही होते हैं। मागधी और अर्धमागधी प्राकृत के शेष नमूने अब केवल श्वेताम्बर जैनियों के सूत्र-ग्रन्थ ही हैं! महाराष्ट्री प्राकृत का भी विशेष उपयोग जैनियों द्वारा ही टीकाओं आदि के लिखने में हुआ हैं। इस प्राकृत का साहित्य ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में विशेष हो गया था; जैसे कि कवि हाल की रचनाओं और प्रवरसेन के 'सेतुबन्ध' नामक ग्रन्थ से प्रकट हैं। शौरसेनी प्राकृत का उपयोग दिगम्बर जैनियों द्वारा विशेष हुआ है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी कार्तिकेय, वट्टकेर आचार्य, नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों ने इसी शौरसेनी प्राकृत में मूल्यमयी रचनायें रची हैं। पैशाची प्राकृत से जैनियों का प्रेम नहीं रहा और हतभाग्य से उसका साहित्य ही उपलब्ध नहीं है। हाँ, इसी प्राकृत की बहिन जो अपभ्रंश भाषा थी उसका साहित्य उपलब्ध हैं और वह खासकर दिगम्बर जैनियों का ही है। प्रस्तुत लेख में इसी अपभ्रंश प्राकृत की उत्पत्ति, इतिहास और उससे जैनियों के सम्बन्ध को प्रकट करना अभीष्ट है!

अपभ्रंश भाषा की प्राचीनता के विषय में जानने के लिये सब से पहले यह देख लेना ज़रूरी है कि उसका उल्लेख किन प्राचीन साहित्यरसिकों ने किया है। इसी अनुरूप नीचे इसी बात को निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है :—

(१) पातञ्जलि, जो कि ईसा से पूर्व की दूसरी शताब्दी के और 'व्याकरण महाभाष्य'

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

के प्रख्यात लेखक हैं, वही संभवतः सबसे पहले 'अपभ्रंश' शब्द का व्यवहार भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में करते हैं। किन्तु वह उसे ग्रामीण मनुष्यों के मुख से निकला हुआ संस्कृत का विकृत रूप ही बतलाते हैं; क्योंकि वह कहते हैं :—

"एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा। गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।'

भावार्थ—प्रत्येक शब्द के अनेक विकृतरूप हैं; जैसे कि शब्द 'गौः' के अपभ्रंश-विकृत 'गावी', 'गोणी', गोता, गोपोतालिका आदि हैं।

यहां 'अपभ्रंश' का भाव विकृत बोलचाल से है। इसलिये यह भरतकवि के 'विभ्रष्ट' शब्द के समान है। इससे इसका संबंध आभीरों से भी प्रकट नहीं होता और न यह साधारण जनता की ही भाषा प्रमाणित होती है!

(२ कवि भरत भारतीय नाट्यशास्त्र के सर्व-प्राचीन लेखक हैं। यह शायद ईसा की २री या ३री शताब्दी में हुये हैं। यह अपने 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ में प्राकृत भाषाओं का उल्लेख करते हैं; जिनको वह नाटक के पात्रों में से किन्हीं खास के बोलने की भाषा बतलाते हैं तथा उनके छन्दों के नमूने भी देते हैं। (अ० १७ और ३२) वह नाटक में शुद्ध संस्कृत, विकृत संस्कृत जिसे 'विभ्रष्ट' संज्ञा दी है और देशी भाषा का प्रयोग करते हैं। देशी भाषा विविध प्रदेशों की स्थानीय भाषा है, जैसे आजकल प्रान्तों के अलग-अलग जिलों में ग्रामीण भाषायें अलग-अलग मिलती हैं। भरत ने यद्यपि अपभ्रंश भाषा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि उनके समय में वह उन्नत हो रही थी और 'आभीरकोटि' कहलाती थी, किन्तु उसका अस्तित्व स्पष्ट प्रमाणित है। वह पंजाब और ऊपरी सिंध के निवासियों द्वारा बोली जाती थी और उसका कोई साहित्य भी नहीं था। अन्य किन्हीं विचरती हुई (nomadic) जातियों द्वारा बोली जाती थी; जिन्होंने ही प्राचीन प्राकृतों को अपभ्रंश रूप दिया था।

(भविष्यदत्तकथा, गायकवाड ओ० सी० नं० २०, भूमिका पृ० ५१)

(३) धरसेन द्वितीय सौराष्ट्र काठियावाड़ में वल्लभीनगर के अधिपति थे। इनके एक शिलालेख में 'अपभ्रंश' का स्पष्ट उल्लेख है और वह बड़े महत्त्व का है; यथा "संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरणः" आदि। यहां धरसेन अपने पिता गुहसेन को अपभ्रंश भाषा में ग्रन्थ रचने में सिद्धहस्त बतलाते हैं। गुहसेन के शिलालेख सन् ५५९ और ५६९ ई० के मिले हैं। (बॉम्बे गजेटियर भाग १, पृ० ९०) इसलिये अपभ्रंश भाषा में काव्यरचना ईसा की छठी शताब्दी में होने लगी थी, यद्यपि कोई काव्य उस समय का नहीं मिला है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(४) भानब को भी संभवतः ईसा की छठवीं शताब्दी के अन्त में, अपभ्रंश भाषा का ज्ञान था, क्योंकि वह उसका स्पष्ट उल्लेख करता है; यथा:—

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥१।३६॥"

(५) दण्डी अपने 'काव्यादर्श' में तत्कालीन साहित्य को चार भाग में विभक्त करता है। वाग्भट ने भी इन्हीं चार भेदों का उल्लेख किया था। दण्डी इनको यों बतलाता है:—

'तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ॥१।३२॥'

इसमें साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्ररूप बतलाया है। अपभ्रंश को वह आभीरों आदि की भाषा, जो साहित्य में व्यवहृत हुई हो, उसे बतलाता है। यद्यपि शास्त्रों के अनुसार संस्कृत से विलग सब ही भाषायें अपभ्रंश बताई गईं हैं, वह यह कहता है, (१।३६) तथापि अपभ्रंश कविता को 'आसार' आदि में विभक्त बतलाता है (आसारादीन्यपभ्रंशो—१।३७)। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि दण्डी के समय में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग देश के साहित्य में विशेष रीति से होने लगा था। वह भरत के समय की तरह केवल संस्कृत नाटकों के नीच पात्रों के मुख की ही भाषा नहीं रही थी; तथापि आभीर आदि जातियों की वही भाषा थी, जिनमें आभीर ही इसको अपनाने में मुख्य थे। साथ ही इस साहित्यिक अपभ्रंश भाषा के अधिकारी केवल कवि और आचार्य ही नहीं रहे थे बल्कि इस पर साधारणतः आभीर, शबर, चाण्डाल आदि जातियों का भी आधिपत्य था। जैसे-जैसे इन जातियों के निवास-स्थान आदि बदलते गये, वैसे ही वैसे अपभ्रंश भाषा में भी भेद पड़ते गये, यह विद्वानों का कथन है। (भवि० क० गा० नं० २०, भू० पृ० ५३) दण्डी का समय ईसा की ७वीं—८वीं शताब्दी माना जाता है।

(६) रुद्रट ईसा की ९वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। उनने भी अपने 'काव्यालंकार' में अपभ्रंश का उल्लेख किया है। उसको संस्कृत, प्राकृत आदि के साथ परिगणित किया है। यह भाषाओं के छः रूप बतलाते हैं—प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पिशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश (२।११-१२)।

(७) राजशेखर ने भी अपनी 'काव्यमीमांसा' में कई स्थलों पर अपभ्रंश का उल्लेख किया है। यह मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्ररूप भाषा के भेद करते हैं। तथा गौड़ आदि देशवासियों को संस्कृत का अधिकारी, लाट (गुजरात) देशवासियों का प्राकृत पर अधिकार, अपभ्रंश पर मरुदेश (मारवाड़) टक्कों (पूर्वी पंजाब) और भादानकवासियों का आधिपत्य बतलाते हैं। अवन्ती, पारिपात्र (विंध्यदेश) और दशपुर के कवियों को भूतभाषा में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कविता करते यह कहते हैं एवं मध्यदेश के कवि को इन सब भाषाओं में पारंगत बतलाते हैं। साथ ही वह यह भी लिखते हैं कि सौराष्ट्र, तृवन आदि देश के निवासी संस्कृत का सम्भाषण अपभ्रंश को मिला कर करते थे। राजशेखर के इस वक्तव्य का समर्थन आजकल जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनसे होता है। अपभ्रंश प्राकृत पर क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनियों का अधिकार रहा है। जैकोबी सा० ने यह ठीक ही कहा है कि दिगंबरियों का अधिकार और बस्ती मारवाड़ और पंजाब के एक भाग में अधिक रहा है। राजशेखर के उल्लेखों से यह भी विदित होता है कि उनके समय में भी अपभ्रंश जनसाधारण की भाषा बनी हुई थी।

(८) **नामसिंधु** ने काव्यालंकार (११-१२) की वृत्ति में अपभ्रंश का उल्लेख यों किया है:—

"तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।"

इस उल्लेख का महत्त्व यह है कि नामसिंधु (१) अपभ्रंश को स्वयं एक प्राकृत मानते हैं, (२) अपने पूर्व के कवियों द्वारा उल्लिखित उपनागर, आभीर और ग्राम्यरूप उसके भेद भी बतलाते हैं; (३) किन्तु वह इन तीन से भी अधिक भेद बतलाते हैं; (४) और कहते हैं कि जनसाधारण की ही यह भाषा थी। इनके एक अन्य उल्लेख से प्रकट है कि उस समय अपभ्रंश का फैलाव पूर्व में मगध तक हो गया था। नामसिंधु ने अपनी टीका सं० ११२५ में (ई० सन् १०६९) में पूर्ण की थी। (भविष्य० गायक० नं० २०, भूमि० पृ० ५७)।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कई छोटे-मोटे उल्लेख मिलते हैं; परन्तु वह किसी विशेष महत्त्व को नहीं रखते हैं। इस तरह अपभ्रंश भाषा के प्राचीन उल्लेख मिलते हैं। इनसे भविष्यदत्त-कथा भूमिका (G. O. S. No. XX) में यह परिणाम निकाले गये हैं:—

(१) अपभ्रंश भाषा ईसा की २री या ३री शताब्दी में कम से कम 'आभीरी' भाषा के नाम से मौजूद थी और सिंध, मुल्तान एवं पञ्जाब के उत्तरीय भाग में स्थित आभीरों एवं अन्य जातियों द्वारा बोली जाती थी।

(२) ईसा की छठवीं शताब्दी तक भी वह आभीर आदि जातियों की भाषा मानी जाती थी और इसका खास नाम 'अपभ्रंश' था। इसका साहित्य भी इस दर्जे का हो गया था कि भामह और दण्डी को भी उसे स्वीकार करना पड़ा था।

(३) ईसा की ९वीं शताब्दी से वह आभीर, शबर, चांडाल जातियों की ही भाषा नहीं मानी जाती थी बल्कि मध्यम श्रेणी तथा अन्य सभ्य पुरुष भी इसी में बातचीत करते थे;

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यद्यपि सभ्यसमाज में संस्कृत को ही मुख्य स्थान प्राप्त था और नाटकों में प्राकृत का आधिपत्य था। दूसरे शब्दों में वह जनसाधारण की भाषा हो गई थी। उस समय वह दक्षिण में सौराष्ट्र तक और पूर्व में संभवतः मगध तक फैल गयी थी।

(४) ११वीं शताब्दी के मध्य में कविगण भी अपभ्रंश को केवल एक साहित्यिक भाषा ही नहीं बल्कि बोलचाल की कई भाषाओं के रूप में स्वीकार कर रहे थे; जिसमें का एक भेद साहित्यिक रूप में उन्नत हुआ था।

इन खास बातों का एकीकरण आभीर (आजकल की अहीर) जाति के फैलाव से ठीक बैठ जाता है; जिनके ही कारण देश की बोलचाल की भाषाओं में अन्तर पड़ा था। महाभारत में आभीर लोग भारत के पश्चिम प्रदेश में सिंधुनदी के तट पर बसे बतलाये गये हैं। मनुस्मृति (१०।१५) में उनको ब्राह्मण पिता और अम्बष्ट माता की संतान लिखा है। इससे इनका ईसवी अब्द के पहले पंजाब में बसना प्रकट है। ईसा की २री और ३री शताब्दी के शिलालेख में भी इनका उल्लेख है। झाँसी के पास का अहिरवर प्रदेश इन्हीं लोगों का निवासस्थान माना जाता है। इस अपेक्षा ४थी शताब्दी में वह मालवा में फैल गये थे यह प्रकट है। इनमें का एक भाग इस समय स्थायी रूप में बस गया था और राज्याधिकारी भी हो गया था। (भाण्डारकर-ऐन्थोवेन पृ० २३) युक्तप्रांत के मिर्जापुर जिले का अहरौर प्रदेश भी अहीरों का वास बतलाता है। इसी समय अपभ्रंश-साहित्य की भी उन्नति होने लगी थी, क्योंकि ऊपर छठी शताब्दी के विद्वान् ऐसा ही बतलाते हैं। फिर आभीर सौराष्ट्र और मगध की ओर बढ़ गये होंगे, तभी वहां पर भी अपभ्रंश की प्रधानता हो गई थी। इस तरह अपभ्रंश भाषा का संबंध आभीर लोगों से स्पष्ट है। मूल में इनकी उत्पत्ति उन्हीं से हुई ख़याल किया जाता है। ईसवी सन् के पहले से उसका अस्तित्व मिलता है।

(क्रमशः)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आचार्य नेमिचन्द्र और ज्योतिष-शास्त्र

[लेखक—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ]

आचार्य श्रीनेमिचन्द्र ज्योतिष-शास्त्र के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके त्रिलोकसारान्तर्गत ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश है।

विषुप-विचार :—

आचार्य ने विषुप दिन का विचार बहुत सूक्ष्मदृष्टि से किया है। जिस दिन दिन-रात्रि दोनों समान हों वह विषुप दिन कहलाता है। यह वर्ष में दो बार आता है। आचार्य के मत से प्रत्येक अयन के अर्धभाग में विषुप दिन आता है। ज्योतिष शास्त्र के नियम से भी यह दिन सायन मेषादि और सायन तुलादि में पड़ता है; इसका भी अर्थ वही है जो आचार्य ने अयनार्ध भाग में बतलाया है। क्योंकि कर्क से लेकर धनु-पर्यन्त दक्षिणायन होता है। इसमें तुला के सायन सूर्य में विषुप दिन पड़ेगा। यहां पर भी अयन के अर्धभाग में ही विषुप दिन माना गया है। इसी प्रकार मकर से लेकर मिथुन तक उत्तरायण होता है। इसमें भी मेष के सायन सूर्य में विषुप दिन माना गया है—अर्थात् अयन के अर्धभाग में ही विषुप दिन पड़ता है। यही अन्य ज्योतिष ग्रन्थों में भी मिलता है। जैसे आचार्य ने पञ्चवर्षात्मक युग मान कर उस युग में विषुप दिन की तिथि तथा नक्षत्र लाने का करण-सूत्र बतलाया है। उसी प्रकार वेदाङ्ग ज्योतिष में भी पञ्चवर्षात्मक युग मान कर विषुप दिन के तिथि नक्षत्र का साधन किया गया है। आचार्य-कृत-करण-सूत्र यह है :—

विगुणे सगिट्ठइसुपे रुऊणे छग्गुणे हवे पव्वम्।
तप्पव्वदलं तु तिथि पवट्टमाणस्स इसुपस्स ॥४२७॥

अर्थ—विषुप-संख्या को दूना करके उसमें से एक घटा कर शेष को छः से गुणा करने से पर्व का प्रमाण आयेगा और पर्व का आधा तिथि-संख्या आयेगी। इसी आशय का वेदाङ्ग ज्योतिष में भी निम्नांकित करण-सूत्र है :—

विषुवत् तद्द्विरभ्यस्तं रूपोनं षड्गुणीकृतम्।
पक्षाः यदार्धं पक्षाणां तिथिः स विषुवान् स्मृतः ॥

यह अति प्राचीन हिन्दू ग्रन्थ वेदाङ्ग ज्योतिष का बावीसवां श्लोक है। इसका अर्थ भी वही है जो आचार्य के करण-सूत्र का है। अर्थात् विषुप संख्या को दो से गुणा कर के गुणन-फल में से एक घटा शेष को छः से गुणा करने पर विषुप की पर्व-संख्या आयेगी और

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पर्व का आधा तिथि-संख्या होगी। इस प्रकार का मत अन्यान्य अजैन ज्योतिष ग्रन्थों में पाया जाता है और आचार्य के करण-सूत्र की वासना भी सिद्ध होती है। जब-तक किसी भी सूत्र की वासना सिद्ध न होवे तब-तक वह सर्वमान्य नहीं हो सकता है। वासना इस प्रकार से है—

माघ शुक्ल के आदि से तीन सौरमास के अन्तराल में पहिला विषुप दिन पड़ेगा। क्योंकि विषुप दिन सायन मेषादि और सायन तुलादि में ही पड़ता है। इसलिये युगादि से ६० सौर मासों में १२४ चान्द्रपक्ष होते हैं तो ३ सौरमास में कितने हुए? इस प्रकार अनुपात करने से यह नतीजा निकलता है।

$\frac{३ \times १२४}{६०} = \frac{३१}{५}$ यह शेष रक्खा। दूसरे विषुप में छः सौरमास होंगे, इसलिये उसके अन्तर्गत पक्ष $\frac{१}{५} \times \frac{६}{५} = \frac{६}{२५}$ दो विषुप में क्षेप एक गुणा और तीन में द्विगुणा तथा चार में तिगुणा इस प्रकार से इष्ट विषुप में एक कम गुणा मानना पड़ेगा। अतः (वि−१) इसको पक्षों से गुणा कर देने से अभीष्ट विषुप संख्या आ जायेगी। अतः अभीष्ट विषुप संख्या =वि − {अन्तर्गत पक्ष} पक्ष= $\frac{६२}{५}$ (वि − १) = $\frac{६२ \text{वि.}}{५} - \frac{६२}{५}$ इसमें क्षेप को जोड़ देने पर युगादि से विषुप संख्या आ जावेगी।

$$\therefore \text{पक्षा} = \frac{६२\text{वि.}}{५} - \frac{६२}{५} + \frac{३१}{५} = १२\text{वि.} + \frac{२\text{वि.}}{५} - १२\frac{२}{५} + ६ + \frac{१}{५}$$

$$= १२\ \text{वि.} - ६ + \frac{२\text{वि.}}{५} \quad \frac{१}{५} = ६\ (२\ \text{वि.} - १)\ \text{पक्ष} + \left(\frac{२\text{वि.}}{५} - \frac{१}{५}\right) \times १५\ \text{तिथि}$$

=६ (२ वि. − १) पक्ष + ३ (२ वि. − १) तिथि। यहां पर दो से गुणा करके दो से ही भाग देने पर राशि में कोई भी अन्तर नहीं होगा, इसलिये ६ (२ वि. − १) पक्ष + $\frac{६(२\ \text{वि.} - १)}{२}$ इस प्रकार से आचार्य-कृत करण-सूत्र निष्पन्न हो गया। इसी अभिप्राय को आर्य ज्योतिष में भी एक करण-सूत्र है—

विषुवत् तद्गुणं द्वाभ्यां रूपहीनं तु षड्गुणम्।
यल्लब्धं तानि पर्वाणि तदर्धं सा तिथिर्भवेत्॥

इस प्रकार से आचार्य ने युग में विषुप का साधन किया है।

उत्तरायण और दक्षिणायन में तिथि नक्षत्र लाने का विचार—

वेगाउट्ठिगुणं तेसीदि सदं सहिद तिगुणगुणरूवे।
पण्णरभजिदे पव्वासेसा तिहिमाणमयणस्स॥

अर्थ—विवक्षित आवृत्ति में से एक घटाकर शेष को १८३ से गुणा कर के गुणनफल में गुणाकार को तीन से गुणा कर जोड़ दें और योगफल में एक और मिलाने से जो हो उसमें

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१५ का भाग देने से लब्ध पर्व और शेष तिथि आयेगी। इस प्रकार से आचार्य ने तिथि और पर्व का अयन में साधन किया है। वेदाङ्ग-ज्योतिष और गर्गसंहिता में भी इसी आशय का सूत्र है। क्योंकि वहां पर भी पञ्चवर्षीय युग मानकर के ही उत्तरायण और दक्षिणायन में पर्व और तिथि का मान निकाला है। आचार्यकृत सूत्र की उपपत्ति बहुत आसानी से सिद्ध होती है। अत एव आचार्य की युक्ति महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। क्योंकि ज्योतिष-शास्त्र में जिसकी वासना सरल एवं सहज में सिद्ध हो वह सूत्र सर्वमान्य होता हैं। आचार्य की वासना निम्न प्रकार से है—इनके मत से एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त तिथि की संख्या ६ अधिक होती है। अत एव एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त चान्द्र दिन $= \frac{\text{चान्द्र वर्ष}}{२} = \frac{३७२}{२} = १८६$ तिथि अथवा चान्द्र दिन एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त होते है। चान्द्र दिन में ३० से भाग दें तो लब्ध मास और शेष तिथि आयेगी। अतः १८६ ÷ ३०=६+६ यहां पर मासों को छोड़ दिया, क्योंकि प्रयोजन नहीं है; इसलिये ६ तिथि का ग्रहण किया। इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम तिथि से द्वितीय तिथि ६ अधिक होती है। अतः १ + ६=७, ७+६ = १३, १३+६=१९, १९+६=२५, क्रम से १, ७, १३, १९, २५, १, ७, १३, २५ यहां पर जो संख्या १५ से अधिक है उसमें १५ का भाग देकर लब्ध को छोड़ दिया और शेष को ग्रहण किया तो १, ७, १३, ४, १०, १, ७, १३, ४ १० यह हुआ। अब दक्षिणायन से गणना की जाय तो प्रथम तिथि-संख्या दक्षिणायन में और दूसरी उत्तरायण में आयेगी।

नक्षत्र लाने की उपपत्ति

एक सौर वर्ष में चान्द्र दिन ३७२ और एक युग ५ वर्ष का होता है, इसलिये इस में रवि भगण ५ सौर मास ६० सौर दिन १८००, चान्द्र मास ६२, चान्द्र दिन १८६०, क्षय दिन ३० मध्रम वा नक्षत्रोदय १८३०, चान्द्र भगण ६७, चान्द्रसावन दिन १७६८, एक सौर वर्ष में सावन दिन ३६६, एक वर्ष में नक्षत्रोदय ३६७, एक अयन से दूसरे अयन-पर्यन्त सौर दिन १८०, एक अयन से दूसरे अयन तक सावन दिन १८३, २७ नक्षत्रों का भोग एक ही भगण में होता है।

$\therefore \frac{३६०}{२७} = \frac{\text{भगण}}{२७} = \frac{४०}{३}$ सौरांश=१ नक्षत्र $\frac{१८३ \times ३}{४०} = \frac{५४९}{४०} = १३\frac{२९}{४०}$ यह द्वितीय अयन का नक्षत्र-भाग हुआ। इस प्रकार से द्वितीय अयन पुष्यार्ध में उपपन्न हुआ। इस प्रकार से आचार्य की नक्षत्र-वासना युक्ति-संगत है और इसी प्रकार से नक्षत्र-आवृत्ति अयन की वासना संगत-सिद्ध होती है। यदि इसी पञ्चवर्षात्मक युग को मान कर आजकल भी आचार्यकृत करण-सूत्रों के आधार से सारिणी बनाई जाये तो पञ्चांग आसानी से बन सकता है। आधुनिक प्रचलित पञ्चांग प्रायः वेदाङ्ग-ज्योतिष के आधार पर है। परन्तु वेदाङ्ग-ज्योतिष

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

की मूल भित्ति को ही लेकर बाद के अजैन ऋषियों ने उसमें बड़ा सुधार किया है। इसी प्रकार जैन ज्योतिष के नियमों से भी यदि सारणी बनाने का परिश्रम किया जाय तो जैन ज्योतिष भी विकसित होकर महत्त्वपूर्ण ही नहीं किन्तु समस्त फलित, गणित, सिद्धान्त-सम्बन्धी ज्यौतिष-शास्त्र में गणमान्य स्थान को प्राप्त हो जायेगा। हमारे जैन ज्योतिष में फलित के अनेक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। निमित्त-शास्त्र जिनका फल बहुत ठीक घटता है ऐसे अनेक ग्रन्थ जैनियों के भी मौजूद हैं। कुछ ग्रन्थ निमित्त-शास्त्र-सम्बन्धी जैन सिद्धान्त-भवन आरा में भी मौजूद हैं। इन पर पुनः समय मिलने पर प्रकाश डाला जायगा।

गति-विचार :—

आचार्य ने सूर्य-चन्द्रमा की गति प्रथम योजनात्मक बतलाई है। फिर उसको कलात्मक करने की युक्ति भी बतलाई है। इस प्रकार से आचार्य ने ग्रहगणित की उपयोगिता के लिये दो तरह की गति निकाली हैं। फिर क्रम से प्रतिदिन के गतिमान के वृद्धि-ह्रास को भी बतलाया है। उन्होंने सूर्य की १८४ वीथी मानी हैं। प्रतिदिन सूर्य अपनी गति से एक वीथी को तय करता है—यह योजनात्मक गति है और जो गगन-खण्ड मान कर सूर्यादि ग्रहों की गति बतलाई है वह कलात्मक गति है। इसी प्रकार अजैन ज्योतिष-शास्त्र में भी सूर्यादि ग्रहों की गति दो प्रकार की बतलाई है। एक योजनात्मक दूसरी कलात्मक। ज्योतिष-शास्त्र के मत से सूर्य क्रान्ति-वृत्त में चलता है और चन्द्रमा विमण्डल में। सूर्य के घूमने के मार्ग का नाम अहोरात्र वृत्त है। प्रत्येक दिन का अहोरात्र वृत्त अलग-अलग होता है। इस प्रकार से एक अयन में १८३ और कुछ अधिक अर्थात् १८४ अहोरात्र वृत्त होते हैं। अजैन ज्योतिष-शास्त्र में भी १८४ वीथी; घटित होती हैं। केवल उन्होंने उसका नाम वृत्त रक्खा और आचार्य ने वीथी परन्तु वीथी और वृत्तका अर्थ परिभाषा के अनुसार एक ही है। यहां पर वृत्त शब्द से दीर्घवृत्ताकार लिया जाता है। या यों कहिये कि ढोलक के आकार का मार्ग वृत्त शब्द से लिया जाता है। सब ग्रहों की कक्षा दीर्घवृत्ताकार की ली जाती है। आचार्य की यही योजनात्मक गति अजैन ज्योतिष-ग्रन्थों में पायी जाती है। जैसे आचार्य ने गगनखण्ड-रूप गति बतला कर सूर्य-नक्षत्र और चन्द्र-नक्षत्र की सिद्धि की है उसी प्रकार से आधुनिक ज्योतिष के नियमों से भी सूर्य-नक्षत्र और चन्द्र-नक्षत्र का मान आता है। क्योंकि सिद्धान्त-शिरोमणि के गणिताध्याय में नक्षत्रानयन प्रकरण में आचार्य की व्यवस्था ही दृष्टिगत होती है—

स्थूलं कृतं भानयनं यदेतज्ज्योतिर्विदां संव्यवहारहेतोः।
सूक्ष्मं प्रवक्ष्येऽथ मुनि-प्रणीतं विवाहयात्रादिफल-प्रसिद्ध्यै॥

अध्यर्ध-भोगानि (११८५।५२) षडत्र तज्ज्ञाः प्रोचुर्विशाखादिति भम्रुवाणि। षडर्धभोगानि च

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(३९५।१७) भोगिरुद्रवातान्तकेन्द्राधिपवारुणानि ॥ शेषाण्यतः पञ्चदशैकभोगान्युक्तो भभोगः शशिमध्यमुक्तिः (७९०।३५)।

इस प्रकार से चक्र कला मानकर अजैन ज्योतिष में कलात्मक गति को ही सूक्ष्म बतलाया है जो आचार्य की बतलाई गयी गति से मिलती है।

परिधि-विचार :—

परिधि के आनयन के लिये भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। परन्तु जिसकी वासना युक्ति-युक्त हो वही सर्वमान्य जानना चाहिये। त्रिलोकसार में जो आचार्य ने परिधि लाने का नियम बतलाया है वह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसकी वासना ठीक है—

नियम—विक्खंभ वग्गदह गुणकरणी वट्टस्स परिरयोहोदि।

अर्थ—व्यास के वर्ग को १० से गुणा कर जो गुणनफल हो उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का मान आता है।

वासना—किसी भी वृत्त की परिधि के अनन्त हिस्से किये जायें और उसी माप के हिसाब से व्यास के भी टुकड़े किये जायें तो रूप-व्यास में परिधि का मान $\sqrt{१०}$ करणी आयेगा। यहाँ पर शंका हो सकती है कि परिधि तो चापाकार होती है और व्यास सरलाकार। फिर इन दोनों का अनुपात करके रूप-व्यास में $\sqrt{१०}$ करणी का ज्ञान कैसे किया? इसका उत्तर यह है कि किसी भी वृत्त का ९६ वां भाग चापाकार को छोड़ कर सरलाकार हो जाता है। इस नियम को सभी गणितज्ञ स्वीकार करते हैं; क्योंकि उपर्युक्त नियम मानने से ही प्रथम ज्या का साधन किया जाता है, अन्यथा प्रथम ज्या का साधन नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम ज्या प्रथम चाप-तुल्य मानी जाती है। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि रूपव्यास में $\sqrt{१०}$ करणी परिधि का मान माना जाता है। अब इष्ट परिधि के लिये इष्ट व्यास से गुणा कर दें तो इष्ट परिधि आ जायेगी। परन्तु जब इष्ट व्यास को $\sqrt{१०}$ से गुणा करेंगे तो व्यास का भी वर्ग हो जायेगा। क्योंकि "वर्गं वर्गेण गुणयेत्" यह नियम है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि व्यास के वर्ग को १० से गुणा कर के वर्गमूल निकालें तो परिधि आयेगी। सूर्य सिद्धान्त में भी इसी फल के अनुकूल नियम बनाया गया है—"व्यासवर्गतो दशगुणात्पदं भूपरिधिः" यह नियम है; परन्तु नवीन आचार्यों ने इसका परिष्कार दूसरे रूप से किया है। सुधाकर द्विवेदी जी का मत है कि "व्यासवर्गतोऽदशात्पदं भूपरिधिः" इस प्रकार का परिष्कार मानना चाहिए और व्याख्या में भी इस प्रकार का परिवर्तन किया है कि "न दशेन्यदश किञ्चिन्न्यूना दशतैर्गुणात्मकं भूपरिधिः" इस प्रकार की व्याख्या करते हैं। परन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं है। सिद्धान्त-तत्त्वविवेक के अवलोकन से मालूम होता है कि उसमें संभवतः आचार्यकृत नियम का ही अनुसरण किया गया है—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

व्यासवर्गाद्दशगुणात्पदं भूपरिधिर्भवेत् ।
व्यासः स्यात् परिधेर्वर्गाद्दिगमत्ताच्च पदंत्विह ॥

इसकी उपपत्ति के लिये भी यह प्रमाण दिया है—

रुद्राहतव्यासदलोत्थवृत्तेर्व्यासोत्क्रमज्यावशतः क्रमज्या ।
या तत्समोऽयं परिधिः सुसूक्ष्मो व्यासैकमानाद्दशमूलरूपा ॥

व्याख्या—रुद्राहतो यो व्यासस्तस्य दलेनोत्थं तस्मिन्, व्यासतुल्या या उत्क्रमज्या तद्वशतः क्रमज्याऽर्धज्या या तत्सम एवायं सूक्ष्मपरिधिः स्यात् ।

क्षेत्रदर्शन

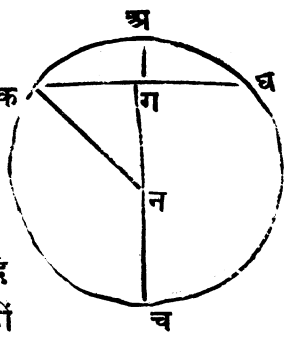

जैसे यहां पर अ घ च वृत्तक्षेत्र लिया जिसका कि व्यास अ च है और परिधि अ घ च क तथा उत्क्रमज्या अ ग है ∴ ११ × व्यास=अ च और अ ग=व्यास (उत्क्रमज्या) यहां पर उत्क्रमज्या शब्दसे व्यास जानना चाहिए। ∴ ग च=१०×व्यास

अतः अ ग × ग च=क ग×ग घ (रे० ३ अध्याय ३४ के) यदि वृत्त में दो पूर्ण ज्यायें संपात करती हों तो एक के दोनों खण्डों का गुणनफल दूसरी के दोनों खण्डों के गुणनफल के बराबर होता है। ऊपर क्षेत्र में अ च केन्द्रग पूर्ण जीवा है और यह जीवा क घ अकेन्द्रग पूर्ण जीवा पर लम्ब-रूप है तथा ग बिन्दु पर संपात भी करती है।

∴ क ग=ग घ (रे० ३ अ० ३ प्र०) तथा अ च रेखा के न बिन्दु पर सम और ग बिन्दु पर असम खण्ड हैं।

∴ ग च × अ ग+न ग^{२}=न च^{२} (रे० २ अ० ५ प्र०) अथवा अ ग × ग च+न ग^{२}=न क^{२}

∴ न क^{२}=क ग^{२}+न ग^{२} (रे० १ अ० ४७ प्र०) अब यहां पर दोनों में से न ग^{२} को अलग कर दिया तो क ग^{२}=ग च×अ ग अथवा क ग^{२}=क ग×ग घ ∴ क ग × ग घ=ग च × अ ग

∴ ग च×अ ग=क ग^{२}=व्यास × १० व्यास=क ग^{२}=व्यास × १० इसका वर्गमूल परिधि होगा। इस प्रकार से कमलाकर के सूत्र की वासना सिद्ध होती है। परन्तु कमलाकर और आचार्य के सूत्र में कोई भी भेद नहीं है। दोनों का अर्थ एक है। इसलिये संभवतः यह सिद्ध हुआ कि आचार्य का अनुसरण कमलाकर भट्ट ने किया हो। क्योंकि कमलाकर का जन्म १५८० शकाब्द में हुआ है; और नेमिचन्द्राचार्य इनसे बहुत पहले हुए हैं; इसलिये संभवतः यह मानना

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पड़ता है कि आचार्य की मान्यता का ही अनुकरण कमलाकर भट्ट ने किया हो। आधुनिक ग्रह-गणित की उपयोगिता में भी ग्रहकक्षा की परिधि लाने के लिये इसी नियम की आवश्यकता होती है। क्योंकि सूक्ष्म परिधि इसी नियम से निकलती है तथा वृत्त-क्षेत्र का गणित भी ज्योतिष-शास्त्र में बहुत आवश्यक है। विना ज्या-चाप और परिधि गणित के ग्रह स्फुट नहीं हो सकते हैं। इसलिये ही आचार्य ने परिधि-नियम को सूक्ष्म बतलाया है। यह एक महत्त्व का विषय है। इसकी प्रशंसा आधुनिक और प्राचीन ग्रहगणित के जाननेवाले ज्योतिर्विदों ने की है। सिद्धान्त-शिरोमणि गोलाध्याय में भास्कराचार्य ने पचासो श्लोक इसकी प्रशंसा में लिख डाले हैं तथा आगे जाकर भू-परिधि का मध्यम और स्फुट मान निकालते समय भी इसी नियम का आश्रय लिया है। अत एव आचार्यकृत परिधि लाने का करण-सूत्र बहुत ही उपयोगी है।

बाण-ज्या-चाप-विचार :—

आचार्य ने बाण-ज्या-चाप के गणित को निकालने के लिये कई करण-सूत्र बतलाये हैं; जिनकी वासना भी युक्तियुक्त है और सूत्रों में भी लाघव किया है। अत एव गणित-ज्योतिष के विषय को ज्या-चाप का गणित बहुत ही पुष्ट करता है। गणित-शास्त्र में जो नियम लाघव का हो वही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है; इसलिये आचार्यकृत ज्या-चाप-बाण का गणित बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लीलावती, बीजसिद्धान्त आदि में इतने लाघव-पूर्ण एवं सूक्ष्म विषय को प्रतिपादन करनेवाले सूत्र नहीं मिल सकते हैं। उदाहरण के लिये एकाध नमूना पाठकों के सामने रखता हूं। बाण निकालने के लिये आचार्य का सूत्र :—

जीवाविक्खंभाणं वग्गविसेसस्स होदि जम्मूलम्।
तं विक्खंभा सोहय सेसद्धमिसुं विजाणाहि॥

अर्थ—जीवा के वर्ग को वृत्त के व्यास के वर्ग में से घटा कर जो शेष रहे उसका वर्गमूल जो आवे उसमें से व्यास को घटा देवें तो शेष का आधा करने से बाण आजायेगा। लीलावती का बाण लाने का सूत्र—

ज्याव्यासयोगान्तरघातमूलं व्यासस्तदूनो दलितः शरः स्यात्॥

अर्थ—ज्या और व्यास को योग और अन्तर करके दोनों का आपस में गुणा कर ले; फिर उसका वर्ग-मूल निकालें बाद उसमें से व्यास घटा देने और शेष को आधा कर देने पर बाण आजायेगा।

अब विचार कीजियेगा कि इस सूत्र के गणित में कितना गौरव है; क्योंकि योग और अन्तर पृथक-पृथक् कर के फिर गुणा करें तब गुणनफल वर्गान्तर-तुल्य होगा। किन्तु आचार्य ने सीधा वर्गान्तर ही बतलाया है। अत एव जिसमें थोड़ी क्रिया हो वह लाघव और जिसमें ज्यादा हो वह गौरव कहा जाता है। इससे आचार्य की कितनी गणितज्ञता

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रकट होती है इस बात को गणितशास्त्र के जानकार ही समझ सकते हैं। आचार्य-कृत सूत्र की वासना निम्न प्रकार से सिद्ध होती है।

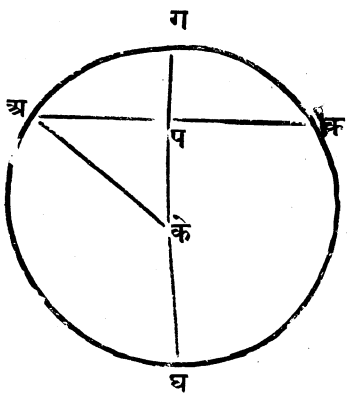

यहां पर ज्या शब्द से पूर्ण ज्या ही जानना चाहिये। कल्पना की कि अ क=ज्या के=वृत्तकेन्द्र। ग प= श र=श, ग घ=वृत्तव्यास=व्या०।

अब क्षेत्रमिति के नियम से—

$केप^२ = अके^२ - अय^२ = (अके + अप)\ (अके - अप)$

इसको ४ से गुणा किया और ४ से ही भाग दिया तब

$= \frac{४ \times (अके+अप)\ (अके-अप)}{४} =$

$\frac{(२\ अके \times २\ अप)\ (२\ अके - २\ अप)}{४} = \frac{(व्या+ज्या)\ (व्या-ज्या)}{४} = \frac{व्या^२ - ज्या^२}{४}$ क्योंकि

योगान्तर घात वर्गान्तर-तुल्य होता है। इसका वर्गमूल लिया तो

$केप = \frac{मू}{२} \therefore$ गप=केग−केप=$\frac{१}{२}$ व्या−$\frac{मू}{२} = \frac{व्या - मू}{२}$=श इस प्रकार से आचार्य का सूत्र निष्पन्न होगया।

जीवा-चाप का गणित भी आचार्य का महत्त्वपूर्ण है। भास्कराचार्य जो कि गणित-शास्त्र के अद्वितीय ज्ञाता माने जाते हैं उन्होंने भी स्थूल जीवा को ही निकाला है। जैसे—लीलावती में लिखा है कि "स्थूलजीवाज्ञानार्थमाह"—'चापोननिम्नपरिधिः प्रथमाह्वयस्यादित्यादि'। किन्तु आचार्य ने सूक्ष्मता बतलाने के लिये करणी-द्वारा जीवा तथा चाप को निकालने के लिये करणसूत्र बतलाये हैं। जो गणित करणी से निकाला जाता है वह बहुत ही सूक्ष्म आता है। आचार्यकृत करणसूत्रों की सूक्ष्मता को पुष्ट करने के लिये केवल वासना ही प्रमाणरूप है, जो कि सर्वथा गणितशास्त्र के मान्य है। ब्रह्म-सिद्धान्त जो कि गणित-ज्योतिष में बहुत प्राचीन माना जाता है, उसकी जीवानयन-क्रिया भास्कराचार्य से भी स्थूल है; क्योंकि उसकी वासना स्वल्पान्तर से ही सिद्ध होती है तथा भास्कर-वासना में भी स्वल्पान्तर की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु आचार्यकृत करण-सूत्र की वासना में स्वल्पान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अत एव आचार्यकृत ज्या-चाप का गणित सर्वश्रेष्ठ है। इस गणित की ज्योतिषशास्त्र में बहुत ही आवश्यकता पड़ती है। अजैन ज्योतिष में ग्रहों की कक्षा दीर्घवृत्ताकार है और चलने का मार्ग भी वृत्ताकार है; इसलिये मध्यम ग्रह को मन्दस्फुट अथवा स्फुट बनाने में जीवा-तुल्य संस्कार करना पड़ता है, इसलिये ग्रहण आदि को सिद्ध करने के लिये जीवाचाप के गणित की नितान्त आवश्यकता होती है। जैन ज्योतिष में भी जीवा-चाप के गणित की अत्यावश्यकता है, क्योंकि प्रत्येक वीथी के विना जीवा-चाप का

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ज्ञान किये ग्रहों की गति का ज्ञान नहीं हो सकता है; अत एव जीवा-चाप का गणित ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार से आचाय ने ज्योतिष-शास्त्र पर प्रकाश डाला है। वेदाङ्ग-ज्योतिष की मान्यता और आचार्य की मान्यता में बहुत कम अन्तर है। वेदाङ्ग-ज्योतिष से ज्ञात होता है कि श्रविष्ठा (धनिष्ठा) नक्षत्र के आदि से सूर्य का उत्तरायण और अश्लेषा के अर्ध से दक्षिणायन होता है। यह उत्तर और दक्षिण गति का समय माघ और श्रावण मास में होता है। उत्तरायण और दक्षिणायन में दिन की बढ़ती और घटती एक प्रस्थ जल के बराबर मानी गई है। उक्त दोनों अयनों में दिन-रात्रि के मान में ६ मुहूर्त्त का भेद पड़ता है। धनिष्ठा के आदि में वत्सरारम्भ माना गया है। इसके पूर्वकाल में कभी वासंत विषुवद्दिन से कभी सूर्य के उत्तरायण के अन्त से वर्षारंभ गिना जाता था। इसी प्रकार से वेदाङ्ग-ज्योतिषकाल में चान्द्रमास पूर्णिमा से लिया जाता था। किन्तु आजकल अमावस्या से लिया जाता है। तैत्तिरीय संहिता के समय में वर्षारंभ माघी पूर्णा से होता था। परन्तु वेदाङ्ग-ज्योतिष में अमा से माना गया है। वेदाङ्ग-ज्योतिष के नियम से पञ्चवर्षीय युग मानकर पञ्चाङ्ग की मान्यता भारतवर्ष में बहुत समय तक रही है। शक की पाँचवीं शताब्दी में वराहमिहिर ने पञ्चाङ्ग की संस्कृति में परिवर्तन कर दिया, किन्तु अयन-प्रवृत्ति तथा सौर वर्ष और चान्द्र वर्ष के मान को वेदाङ्ग-ज्योतिष के अनुसार ही रक्खा। अपनी वृहत्संहिता में अयन-प्रवृत्ति लिखते हुए वराहमिहिर ने लिखा है:—

आश्लेषार्द्धादक्षिणमुत्तरमयनं रवेर्धनिष्ठार्द्धम्
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ॥

इस आर्या से ज्ञात होता है कि 'पूर्वशास्त्रेषु' से वेदाङ्ग-ज्योतिष का स्मरण किया है। पाराशर-तंत्र जो कि भारतीय ज्योतिष-शास्त्र में बहुत प्राचीन माना जाता है, उसकी मान्यता भी पञ्चवर्षीय युग को लेकर अयन, नक्षत्र, तिथि, पर्व, विषप, दिन तथा चक्रकला मानकर नक्षत्र-भुक्ति आदि की मान्यता आचार्य के ही अनुरूप है। पूर्वलिखित प्राचीन भारतीय ज्योतिष की मान्यता से मालूम होता है कि आचार्य की मान्यता प्रायः मिलती-जुलती है केवल उत्तरायण और दक्षिणायन की नक्षत्र-मान्यता में ही भेद है। क्योंकि आचार्य ने अभिजित् नक्षत्र से दक्षिणायन और हस्त नक्षत्र से उत्तरायण को माना है। शेष दिन-रात्रि का वृद्धि-ह्रास और नक्षत्र, पर्व, दिन आदि व्यवस्था पाराशर-तंत्र, आर्य-ज्योतिष, अथर्व-ज्योतिष, वेदाङ्ग-ज्योतिष आदि सुप्राचीन ग्रन्थों से प्रायः मिलती है। किन्तु गणित-विषय का प्रतिपादन आचार्य का इन ग्रन्थों से भी सूक्ष्म एवं महत्त्वपूर्ण है। यदि वेदाङ्ग-ज्योतिष के सूत्रों के अनुसार त्रिलोकसार में ४५ गाथा जो गणित-ज्योतिष-शास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं, सुधार हो जाये तो उससे अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। क्योंकि वेदाङ्ग-ज्योतिष में केवल ३६ ही कारिकायें हैं। उनकी ही मूल-भित्ति से आधुनिक ज्योतिषशास्त्र इस रूपमें है। इस प्रकार से नेमिचन्द्राचार्य का ज्योतिष-शास्त्रसे बहुत ही सम्बन्ध है और आप गणितज्ञ-ज्योतिषके एक अच्छे विद्वान् थे इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दाक्षिणात्य जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत स्व० आर० ताताचार्य, एम० ए०, एल० टी०]*

.....:※:.....

जैनधर्म एक अनादिकालीन मत है—वह किसी प्राचीन धर्म की शाखा नहीं है। श्री-पुरुदेव के पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था। सच तो यह है कि जैनधर्म की प्राचीनता की चर्चा विश्व की प्राचीनता के समतुल्य है। संक्षेप में इस मत के मूल-तत्व यों कहे जा सकते हैं। जैनधर्म में जीवादि सात तत्त्व माने गये हैं। पंचास्तिकायों में जीव के स्वभाव का विस्तृत वर्णन है। जीव नित्य है। संसारावस्था में वह देहधारी है। इस देह के बन्धन से उसे मुक्त होना है। बस संसार से छूटना ही मोक्ष है। और इस बन्धन से छुड़ानेवाला भी कोई दूसरा नहीं है। प्रत्येक जीव स्वयं मुक्त होने की सामर्थ्य रखता है—वह चेतन है—ज्ञानमय है। सुयोग मिलना उसके लिये संभव है। स्वकृत कर्मों का शुभाशुभ फल जीव अकेला ही भोगता है। एक जीव के किए हुए पुण्य-पाप का भागी दूसरा जीव नहीं होता। जीव अपने हित के लिए दूसरों का मुंह ताकता बैठा रहे तो कुछ नहीं होगा। यह अवश्य है कि अग्रज पुरुषार्थी के मार्ग में कर्म और काल बाधक भी होते हैं। किन्तु कालोचित कार्य का फल प्राप्त होता ही है और उसमें सदसद् विवेचन करानेवाले उपदेश-दाता—सन्मार्गदर्शक आचार्य, उपाध्याय और साधु महानुभाव अपनी निसर्गज दयादृष्टि से सहायक होते हैं—वह हेयोपादेयदर्शक उपदेश-द्वारा जीवराशि को सद्गति दिला सकते हैं। इसके विपरीत यदि जीव उनके उपदेश को नहीं मानते हैं, पंचाणुव्रतों को नहीं पालते हैं, सप्त व्यसनों में मग्न रहते हैं और स्वेच्छाचारी बनते हैं तो निस्सन्देह उन्हें कभी भी चतुर्गति भ्रमण से छुटकारा नहीं मिल सकता। जैनाचार्यों का उपदेश परम्परा-प्राप्त आगम के अविरुद्ध और पूर्वापरविरोधरहित होता हैं। उससे जीवमात्र का हित सधता है। इनका उपकार चिरस्मरणीय है। दक्षिण भारत के जैनधर्म में इन गुरु महात्माओं का विशेष स्थान है। वहां सब से पहले हमें श्रुतकेवली भद्रबाहु जी का नाम मिलता है। शिलालेखों से स्पष्ट है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु

* स्व० ताताचार्य जी मद्रास प्रोवेन्शियल एजुकेशन सरविस में डिस्ट्रिक्ट एजुकेशन औफिसर थे। वह जन्म से ब्राह्मण और वैदिक धर्म-भक्त थे। परंतु जैन क्रियाओं पर आप की विशेष श्रद्धा थी। मद्रास विश्वविद्यालय के लिये आपने अंग्रेजी में कुछ भाषण दिये थे—उनमें एक भाषण "जैन वाङ्मय" शीर्षक था। उसी से उपर्युक्त अंश संकलित करके कन्नड से हिन्दी रूप में उपस्थित किया जाता है।

—वर्द्धमान हेग्गडे

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अपने शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त-सहित बारह हजार मुनियों को साथ लेकर दक्षिण भारत को आये थे। वह संघसहित मैसूर प्रान्त के श्रवणबेल्गोलस्थ कटवप्र पर्वत पर ठहरे थे। इन गुरुओं के शुभागमन से स्पष्ट है कि उस समय यह प्रदेश विशेष समृद्धिशाली था और वहाँ जैनधर्म की विशेष उन्नति थी। यह कहना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता कि इन मुनियों के आगमन से ही जैनधर्म दक्षिण में अंकुरित हुआ था। कन्नड-रामायण से स्पष्ट है कि श्रीमुनिसुव्रत तीर्थंकर के काल में श्रीरामचन्द्रजी दक्षिणभारत में आये थे और उन्होंने वहाँ जैनमुनियों की पूजा तथा चैत्यालयों की वन्दना की थी। अतः बहुत प्राचीन समय से ही दक्षिण देश में जैनधर्म विद्यमान था। ऐतिहासिकों के लिये श्रीभद्रबाहु स्वामी की दक्षिण-यात्रा जैनधर्म के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती है।

जब उत्तर देश में दुष्काल का अन्त हो गया तो उनमें से कुछ साधुगण उल्टे वहां वापस चले गए। दक्षिण में रहे हुए उन महानुभावों के वेश, भाषा, शील, दयार्द्रभाव, सदाचार, सदुपदेश, समयोचित हितोपदेश इत्यादि बातों का प्रभाव दक्षिण देश के निवासियों पर पड़ा था—उन्होंने उनके चित्त को अपनी ओर आकृष्ट किया था और उनमें धर्मवात्सल्य सिरजा था। वे जैनव्रतों को पालते हुए धर्म में स्थिर हुए। बहुविद्या-प्रवीण जैनगुरुओं के उपदेश की सुलभता से बहुत से लोग उनके शिष्य हो गए। जैनियों ने राजदरबारों में विशेष सत्कार तो पाया ही, परंतु उनमें से बहुत से राजा, अमात्य और मंत्री पद को अलंकृत करते थे। इस तरह विद्या, धर्म और राज्याधिकार—इन तीनों बातों में जैनी अन्यमतावलम्बियों से उत्कृष्ट हुए। पाण्ड्य, चोल, पल्लवादि देशों में राजाश्रय पाकर जैनियों ने सुविधापूर्वक शास्त्र-पुराण-काव्य, शिल्प इत्यादि की अभिवृद्धि की। अनेक ग्रन्थों को संस्कृत, प्राकृत, तामिल, कन्नड आदि भाषाओं में रचा। तामिल भाषा में उन्होंने खूब साहित्य सिरजा। उनके पहले भी तामिल में प्रौढ़ वाङ्मय था। प्राचीन तामिल वाङ्मय में तीन पर्व हैं। उनमें से अन्तिम पर्व "कडैच्चंगं" में जैन ग्रन्थों को तामिल साहित्यिकों ने मिला लिया है। उनमें 'तिरुक्कुरल' —'नालदियार'—'पञ्चिमोञ्छी'—'नानुछी'—'चिंतामणि'—'शिलप्पदिकारं'—'वलणप्पदि' इत्यादि काव्य विशेष प्रशंसा के योग्य कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त 'पेरकंदै' 'यशोधरकाव्य'—'चूडामणि'—'एलादी'—'कलिंगतुप्परणी'—'नन्नूल'—'नेमिनादं'—'यप्पारुं' 'कलक्कारिकै' 'श्रीपुराणं'—'मेरुमंदर पुराणं' आदि तामिल जैन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। निस्सन्देह तामिल भाषा में व्याकरण, छन्दःशास्त्र, जैनागम आदि-विषयक अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखकर तामिल वाङ्मय को उत्कृष्ट स्थिति में लानेवाले जैनी ही थे।

कावेरीप्पुंपट्टनं, उरैयूर, मदुरे इत्यादि बड़े बड़े शहरों में जैनियों के विशाल मंदिर और मठ थे। वे स्त्रियों को भी विद्याभ्यास कराते थे। जैनाचार्यों ने वर्तमान प्रचारशैली के

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अनुरूप दिवाली, पूर्णिमा आदि त्यौहारों के अवसरों पर उच्च स्थानों पर खड़े होकर जन-समूहों को युक्तियुक्त हितकारी उपदेश बड़े मनोरंजक रीति से दिया था, जिससे देश एवं जाति की विशेष उन्नति हुई थी।

जैनसमाज के प्रसिद्ध आचार्य श्रीकुन्दकुन्द महाराज ने वंदवासी तालुकवर्ती पोन्नूरग्राम के निकट अवस्थित 'नीलगिरि' नामक पर्वत पर तपस्या की थी। इनके आश्रम में आकर कांची के पल्लववंशी शिवस्कन्दवर्म महाराज ने 'प्राभृतत्रय' सिद्धान्तग्रन्थ पढ़े थे। इन्हीं का दूसरा नाम एलाचार्य था। उन्होंने ही, प्रो० चक्रवर्ती के मतानुसार, तामिल साहित्य के श्रेष्ठ नीति-ग्रंथ 'कुरल' को रचा था। अन्य प्रमाणों से भी इस मत का पोषण होता है।

ईसवी सन् के आरंभ में अथवा उसके एक-दो शताब्दी उपरान्त तक द्राविड़ देश में जैनी विशेष व्युत्पन्न और विद्वान् रहे। उस समय देश भी समृद्धिशाली रहा था। जैन अपनी समाज और संघों को गण, गच्छ इत्यादि में विभक्त करके संगठित रूप में रहते थे और लोकमान्य थे।

तामिल देश के इतिहास में जैनधर्म तीसरी-चौथी शताब्दियों में नहीं-सा दिखाई देता है, परन्तु ७, वीं ८ वीं शताब्दियों में अत्यन्त उच्चस्थिति में विद्यमान था। गंगवाडि में दूसरी शताब्दी से लगभग ११ वीं शताब्दी तक शासन करनेवाले गंगवंशी राजाओं के द्वारा जैनधर्म को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था और उस काल में वह धर्म विशेष प्रबल था। "दर्शनसार" ग्रन्थ से विदित होता है कि करीब ४०० ई० में श्रीपूज्यपाद जी के शिष्य वज्रनन्दी ने दक्षिण मथुरा में एक 'द्राविड़संघ' स्थापित किया था। सभी दिगम्बर जैन उसके सदस्य थे। उसका मुख्य उद्देश्य जैनमत का प्रचार करना था। उसको पांड्यराज-द्वारा पूर्ण प्रोत्साहन मिला था। इसी कारण वह ब्राह्मणों के साम्प्रदायिक द्वेष से अछूत रहे। पाण्ड्यराजा सभी जैनी थे। छठवीं शताब्दी में तामिल देश की परिस्थिति बदल गई। 'कलभ्र' राजवंशियों से उत्तर मथुरा छीन लिया गया।

पांचवीं शताब्दी से अनेक शिवालय तामिल देश में निर्मित हुए, जिनके द्वारा शिवभक्ति का बहुत प्रचार हुआ। शिवलीला चरितार्थ करनेवाले अनेक लोकस्तोत्र तामिल भाषा में रच दिए गये थे। कुलोत्तुंग चोल के समय में (११५०) पल्लवदेश के बेलालकवि ने ४३०६ पद्यप्रमाण 'तिरुतोंडर' अथवा 'पेरियपुराण' रचा था। इस पुराण में शिवभक्तों का विशद वृत्तान्त है। साथ ही जैनियों की निंदा भी उसमें खूब की गई है। यदि निंदात्मक अंश को छोड़ कर उस रचना को देखा जाय तो उससे तत्कालीन जैनियों की परिस्थिति का बोध होता है। शैवों ने जिन बातों को नहीं लिखा है उन बातों का पता वैष्णव-प्रबन्धों से चलता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सातवीं-आठवीं शताब्दी में जैनधर्म के लिए पल्लव और पाण्ड्य देशों में पराभव के सिवाय कुछ और शेष न था। निरे शैव चोलराजा जैनमत के विरोधी थे। इस पर भी हम यह नहीं कह सकते कि इन प्रान्तों से जैनियों का शैवों ने समूल नाश किया हो। 'सम्बन्धर' आदि शैव महात्माओं की उत्तेजना से जो आठ हजार जैनी मृत्यु को प्राप्त हुए 'वे सभी प्रायः जैनियों के मुखिया थे'। इस प्रकार जैन धर्म पर यह प्रलयंकर संकट आया था। इसका कारण भी है। पहले से ही जैनी सिद्धांत, नीति, धर्म, शील, आचार, संस्कार, साहित्य आदि विषयों में निष्णात होकर राजाश्रय पाने में सफल हुए थे और अन्ततः राज्यभार के अधिकारी हुए थे। अजैनों के लिये जैनों की यह उन्नति असह्य थी—वे उनसे जलने लगे। उधर स्वयं जैनी रागद्वेष के वशवर्ती हो कर अपने पूर्व ध्येय से पतित हुए। क्रमेण यतियों और मुनियों की विद्वत्ता भी कम हो गई। इससे जैनसंघ स्वयं प्रतिभाहीन हुआ। बलात् बहुत से जैनी शैव बनाये गये—जो थोड़े से अपने मत पर दृढ़ थे वह तलवार के घाट उतार दिये गये। अतः ९-१० वीं शताब्दी में जैनधर्म प्रभाहीन हो गया।

किन्तु यह देखना उचित है कि तामिल देश के प्रति जैनियों ने क्या उपकार किया? यह मानी हुई बात है कि जैनी लोग पण्डित थे—शास्त्रज्ञ थे। उनमें अनेक कवि थे और वे लौकिक कलाओं में भी निपुण थे। परिणामतः जैनियों के सत्संग, सहवास और सहयोग से तामिल देश में उत्तम नीतिमार्ग प्रचलित हुआ। नीतिग्रन्थ अधिक सिरजे गए। संस्कृत और प्राकृत साहित्य के ग्रन्थरत्नों को तामिल भाषा का जामा पहनाया गया। जब से तामिल साहित्य की बागडोर जैनियों के हाथ में आई तब से वह साहित्य विशेष प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हुआ। यह हुआ भाषा—साहित्य के प्रति जैनियों का उपकार!

लोकसमाज के लिये जैनियों ने जो उपकार किया उसे कहना सुगम नहीं है। जैनियों के धर्मोपदेश और सद्धर्माचरण के बाहुल्य से जनता में अहिंसा-तत्त्व का ज्ञान विशेष घर कर गया और अधिकांश जनता मधु मांस-भक्षण की त्यागी हो गई। ब्राह्मण आदि उच्चवर्णी लोगों में से मांसाहार मिटाने में जैनियों का पवित्र जीवन ही कार्यकारी था। ब्राह्मणों पर इस अहिंसा सिद्धान्त का इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा था कि यज्ञों में भी हिंसा बन्द हो गई—जीवहिंसा-रहित यज्ञ किये जाने लगे। लोगों की सैद्धांतिक मान्यताओं पर भी जैनधर्म का प्रभाव कार्यकारी हुआ। कतिपय विद्वानों का मत है कि विग्रहाराधना, पुराण पुरुषों की पूजा, गणपति पूजा, देवस्थान-निर्माण-प्रथा और जीर्णोद्धार-क्रिया इत्यादि शैव और वैष्णव मतों में जैनसंप्रदाय की देखादेखी प्रचलित हुई। निरंजन-निर्लेप भगवान् की पूजा करने के लिये विग्रहादि वस्तुएँ आवश्यक होती हैं—परिणामतः जैनियों की अर्हत्पूजा—केवलीपूजा इत्यादि धर्मक्रियाओं की नक़ल कर के शैवादि में उक्त रूढ़ियां प्रचलित हुई होंगी। उदाहरणतः

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ग्रन्थाधार से कुछ रूढ़ियों को देखिए—

(१) श्रेयांस महाराज ने वैशाख शुद्ध तृतीया के दिन आदि तीर्थेश्वर को इक्षुरस का आहारदान दिया—उस दान को देवताओं ने 'अक्षयदान' कहा—इसीलिये 'अक्षयतृतीया' का त्यौहार प्रसिद्ध हुआ।

(२) भरत महाराज व्रतियों के सदाचार से प्रसन्न हुए और उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से समलंकृत किया। उस समय उन्होंने प्रसन्न होकर पद्मनिधि से प्राप्त दिव्यसूत्र मंगाये और उन्हें उन ब्राह्मणों को प्रदान किये--उसमें उन्होंने उन व्रतियों के व्रत-शील-दृढ़चर्या को लक्ष्य कर के षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ ऐसे २७ दल तथा नव देवता-संकल्प से ९ मुख्य दल बना कर जनेऊ पहनाये। रत्नत्रय धारण करा के वस्त्राभरणादि से उनकी पूजा की और उन्हें गृह-ग्राम-क्षेत्रादि का दान दिया। इस दानोपलक्ष में श्रावण शुद्ध पूर्णिमा का श्रवण नक्षत्र उपाकर्म-पर्व-तिथि प्रसिद्ध हुआ।

(३) श्रीआदि परमेश्वर ने माघ बदी चतुर्दशी के दिन मोक्ष (शिव) प्राप्त किया था। देवेन्द्रादि चतुर्निकाय अमरलोगों ने आकर अष्ट द्रव्यों से कैलाश पर्वत की पूजा की और परिनिर्वाणकल्याणोत्सव मनाया, तभी से वह तिथि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रचलित हुआ।

(४) साकेत नगर के आनंद महाराय ने गुरूपदेश से सूर्यमंडल-स्थित जिनदेव (की प्रतिमा) की त्रिकाल-पूजा-स्तवन किया, तब से सूर्योपासना प्रचलित हुई और 'सौरमत' चालू हुआ।

(५) अयोध्यापुर के रामस्वामी के त्रिजगद्भूषण-नामक गजेन्द्र मदमत्त हुआ और भरत को देख कर जातिस्मरण को प्राप्त हुआ। उसने खाना-पीना छोड़ दिया। अन्ततःत्रिज्ञान-धर मुनिवर्य ने राजा को उसका तात्पर्य बताया, तो उस गजेन्द्र को व्रत नियम धारण करा दिये। उसने शेष आयु में उन व्रत-उपवासों का दृढ़ता से पालन कर के मरण किया और वह देव हुआ। उस हाथी के प्रतिरूप को शिलाओं पर अंकित करके पूजने से वह देव प्रत्यक्ष होकर लोगों की अभीष्ट की पूर्ति करता था। वह देव देवों का अधीश था इसलिये 'गणेश' नाम से भाद्रपद शुद्ध चतुर्थी को प्रतिष्ठित किया गया, तब से गणेश-चौथ का त्यौहार प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार उपर्युक्त पर्वों और प्रथाओं का उद्गम जैनमत से हुआ प्रमाणित है।

अब ज़रा आइए, कर्णाटक देश में जैनधर्म की स्थिति पर विचार करें। सब से पहले वहाँ हमें सिंहनन्द्याचार्य मिलते हैं, जिन्होंने (गंगवंश के आदि पुरुष) राजकुमार दडिग और माधव के प्रति समवेदना प्रकट कर के उनको अपना शिष्य बनाया और उन्हें राजविद्यानिष्णात करके गंगराज्य की स्थापना कराई। यह राज्य 'गंगवाडि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। गंगवाडि पर गंगराजाओं ने शासन किया। गंगवंश का पहला राजा माधव कोंगुणिवर्म हुआ; जिसका

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

समय हूण शक द्वितीय शताब्दी निर्णीत है। उस समय गंगवाडि में जैनधर्म ही राजधर्म था। गंगराजाओं में अविनीत के गुरु जैनमुनि कीर्तिदेव और दुर्विनीत के आचार्य पूज्यपाद थे। गंगवंश के २१ वें राजा राचमल्ल सत्यवाक्य के शासनकाल में उनके मंत्री और सेनापति चामुंडराय ने श्रवणबेल्गोल में श्रीगोम्मटेश्वर की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी थी। जब-तक राजराजसेन चोल-द्वारा गंगराज्य का नाश नहीं हुआ तब-तक गंगवाडि में जैनधर्म को सुखद आश्रय प्राप्त रहा था।

गंग-काल के दुर्विनीत, गुणवर्म प्रथम, चामुंडराय, नागवर्म प्रभृति उल्लेखनीय कर्णाटक कवि थे।

चालुक्य साम्राज्य के अन्तर्गत भी जैनमत और जैनवाङ्मय को समुचित सम्मान प्राप्त हुआ था। पुलकेशी द्वितीय के राजगुरु श्रीरविकीर्ति थे। जयसिंहदेव के उपरान्त आठवें चालुक्य राजा विनयादित्य थे और उनके गुरु भी जैनाचार्य निरवद्य पण्डित थे। चालुक्य-राज द्वितीय विक्रमादित्य ने जिनभवन का जीर्णोद्धार करा कर उसके लिये जैनगुरु विजय पण्डितदेव को दान दिया था। इस प्रकार जिनधर्मवत्सल होते हुए भी चालुक्यराज अन्य मतों के विरुद्ध नहीं थे, यह एक विशेष बात है। राष्ट्रकूट राजाओं में शायद यह गुण नहीं था—उन्हें जैनधर्म का विशेष पक्षपात था। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द द्वि० के शासनकाल में पूज्य जिनसेनाचार्य ने हूण शक ७८३ में 'हरिवंश' को रचा था। अमोघवर्ष प्रथम ने 'रत्नमालिका' नामक ग्रंथ की रचना की थी। उन्हीं के काल में श्रीमहावीराचार्य ने 'गणित-सार-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था।

जब दूसरी बार चालुक्यों का अभ्युदय हुआ तो जैनधर्म पूर्ववत् उन्नतावस्था में नहीं था। जैनमंदिरों को तोड़ कर मूर्तियां नष्टभ्रष्ट की गई थीं। परन्तु इस मर्तबा चालुक्य अधिक समय तक राज्य न कर सके; क्योंकि सन् ११२६ में इनको पराजित कर के कलचूर्य लोग आक्रमण करते हुए आगे आये। यद्यपि कलचूर्य राज्य भी अल्पकालीन था। उस काल में जैनधर्म की प्रतिभा स्थापित न हो सकी—बल्कि उस पर अनेक आपत्तियां आईं। लिंगायत-मत के प्रवर्तकों ने उसका मूलोच्छेदन करना ही ठान लिया। बिज्जल का राज्य ही नष्ट किया गया। शैवग्रन्थों के देखने से जैनियों पर हुए अत्याचारों का पता चलता है। एक दो उदाहरण देखिये :-

(१) 'मारुडिगे' नामक ग्राम में कडुगलि नाचय्य अकेला ही शिवभक्त था। वहां और सब जैनी रहते थे, जिनके १७०० जैनमंदिर थे। शिवालय केवल एक था। जैनियों ने शिवालय का दर्वाजा तोड़ डाला, तब नाचय्य ने युद्ध कर सैकड़ों जैनियों को तलवार के घाट उतार दिया और सैकड़ों को मार भगाया। जैनियों के १७०० जिनमंदिर और प्रतिमायें नष्ट कीं और इनमें शिवलिंग की प्रतिष्ठा कराई।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२) कल्याण नगर में जैनियों पर जो आपत्ति आई, उसका मूलकारण उनके द्वारा शैवनिन्दा होनी थी। वहाँ शैवों ने जैनियों को समूल नाश करने के लिए जो पराक्रम दरसाया वह खेद और आश्चर्य का विषय है। उसका वर्णन कन्नड भाषा की एक कविता में किया गया है, जिसका भावार्थ यों है:—"उस नगर में जितने जैनमंदिर थे उनको नष्ट और जिनप्रतिमाओं को विध्वंश कर के शैवों ने सारे जैनियों को वहाँ से मार भगाया। नाममात्र के लिये एक भी जैन मंदिर या जिन-प्रतिमा कल्याण नगर में न रहे, इस उद्देश्य से रामदेव इत्यादि शैवभक्तों ने सब जैनमंदिरों को तोड़ डाला, जिनप्रतिमाओं के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और वहाँ के जैनियों को मार भगाया। जब लोगों ने जैनधर्मावलम्बी बिज्जलराय से चुगली खाई और यह ख़बर फैली कि उन्होंने अल्लप मादय्य की आँख फुड़वा डाली हैं तो शैवगण उनकी सभा में जा धमके और उन्हें मार डाला। इस प्रकार कलचूर्य राज्य नष्ट कर दिया गया।"

इस प्रकार के वर्णन शैवग्रन्थों में बहुत मिलते हैं। संभव है चिरकालीन पारस्परिक वैर के कारण जैनों ने भी विषम परुष भाषण का प्रयोग किया हो। कन्नड काव्यों में शैव और जैनों के पारस्परिक संघर्ष में पराजितों को त्रस्त किये जाने के विशद उल्लेख मिलते हैं। धर्म के नाम पर परस्पर द्वेष उत्पन्न होने से देश में क्षोभ फैला, जिसके परिणाम-स्वरूप उस समय के इतिहास और साहित्य में भी वह कलंक शेष रहा। वह तत्कालीन शोचनीय अवस्था का चिह्न है।

कर्णाटक देश के होय्सल-वंशी राजाओं के द्वारा भी जैनधर्म का उत्कर्ष विशेष हुआ था। होय्सल राजगण आदि से ही जैनधर्मावलम्बी थे। जब चोलों ने गंगराजाओं को पराजित कर दिया तब होय्सल (सन् १००४ ई०) प्रबल हुए। इन्होंने बारी-बारी से चोलों को कर्णाटक देश से निकाल कर बाहर किया और बारहवीं शताब्दी में वह वहां के मुख्य राजा हो गये। मुनि शान्तिदेव के शिष्य राजा विनयादित्य से प्रारंभ हुए बिट्टिदेव-पर्यन्त सभी होय्सल राजा जैनी थे। बिट्टिदेव (सन् १११९-११४९) को वैष्णव गुरु रामानुजाचार्य ने वैष्णवधर्म में दीक्षित किया था, जिसके कारण जैनधर्म का वह आदर होय्सलों में न रहा। एक ओर लिंगायतों के उपद्रव और दूसरी ओर चोलों के आक्रमण—जैनधर्म की रीढ़ तोड़ने के लिये काफी हुए। फिर भी विष्णु के मन्त्री गङ्गराय और नरसिंह के मन्त्री हुल्ल ने जैनधर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया, जिससे जैनधर्म का समूल नाश दक्षिण भारत से नहीं हो सका। हाँ, वह क्षीणप्रभ हो गया। जैनधर्म के मुख्याचरण शैव और वैष्णवों द्वारा स्वीकृत हुए। यद्यपि जैनधर्म राजाश्रय-हीन हो गया था, फिर भी गुणग्राही राजा लोग जैन गुरुओं, विद्वानों और नेताओं का यथोचित आदर करते थे।

एक बार श्रवणबेल्गोल के मठ की वार्षिक सहायता को हैदरअली खाँ ने बन्द कर दिया

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

था; परन्तु उपरान्त उसने जैन देवालयों के लिए बहुत से ग्राम छोड़ दिये थे। उसके बाद किसी भी राजा ने जैनों से द्रोह नहीं किया।

यद्यपि होय्सल शासन के अन्तिम काल में जैनधर्म का किंचित् अनादर हुआ, परंतु दक्षिण कन्नड और तौलव राज्य में जैनधर्म अभ्युदय का कारण हुआ था। वहां के जैनी सन्मार्ग-दर्शक ही नहीं साहित्य-स्रष्टा भी रहे। वहां बहुत-से ग्रन्थ लिखे गए। यह प्रथा थी कि उत्तमोत्तम प्राकृत, संस्कृत, और कन्नड भाषा के ग्रन्थ को लिखवा कर जैन मठों में विराजमान कर के पूजा जाये। कवि सालव, चन्द्रसागर वर्णी, रत्नाकर कवि आदि जैन विद्वानों को उदार आश्रय भी मिला था। क़रीब १४वीं शताब्दी में साम्प्रदायिक-विद्वेष बहुत कम हो गया और लोग प्रेम से रहने लगे। परिणामतः साहित्य में भी नवीनता आ गई। विजय-नगर के राजाओं द्वारा जैनधर्म पर कोई उपद्रव नहीं हुआ; बल्कि बुक्कराय (१३५३—१३७७) ने जैन और वैष्णवों में परस्पर सन्धि करा दी थी।

जैनियों के द्वारा हुए उपकारों में पहला उपकार देशभाषा का संस्कारित किया जाना था। इनमें अनेक लक्षण-ग्रंथ रचे गए। इसके अतिरिक्त सुगम रीति से जीवादि तत्त्वों का निरूपण करना तथा सर्वजनोपयोगी साहित्य सिरजना यह भी जैनों का उपकार था। आजकल के भौतिक शास्त्रज्ञ भी उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों में से कुछ ने जैनशास्त्रों को पढ़ कर मधु-मांस त्याग दिया है। दक्षिण भारत पर भी जैन-अहिंसा का प्रभाव पड़ा था।

अनुवादक—मा० वर्द्धमान हेग्गडे

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कोपण — कोप्पल *

[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

श्रीमान् स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य, श्रीमान् दिवंगत के० बी० पाठक, प्रोफेसर कीलहार्न एवं श्रीयुत कृष्णशास्त्री आदि विद्वानों ने निजाम राज्यान्तर्गत रायचूर की नैर्ऋत्य दिशा में वर्तमान कोप्पल को ही प्राचीन कोपण अनुमान किया था। किन्तु कोप्पलस्थ चन्द्रबंडि एवं वेङ्कटरमणदेवालय में उपलब्ध इधर के शिलालेखों से तो अब यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि कोप्पल ही प्राचीन कोपण था।

यह स्थान ई० पूर्व ३ री शताब्दी से भी पूर्व का सिद्ध होता है। इसके लिये कोप्पल के निकटवर्ती गविमठ और पाल्कीगुंडि के पर्वत-मूल में प्राप्त सम्राट् अशोक के शिलालेख ही साक्षी हैं। निजाम कर्णाटक के मस्कि नामक स्थान में उपलब्ध सम्राट् अशोक का दूसरा लेख भी कोप्पल से केवल ५४ मील दूरी पर है। एर्रगुरि के शिलालेखों का अन्तर भी इन शिलालेखों से सिर्फ ९४ मील का है। उक्त पाल्कीगुंडि पर्वत से पश्चिम इसी पर्वत की एक दूसरी श्रेणी दक्षिण से उत्तर की ओर अर्धचन्द्राकार से फैली हुई है। यहां के वृद्धजन इसी को इन्द्रकील पर्वत मानते हैं। इतना ही नहीं, पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिये अर्जुन ने उक्त इन्द्रकील पर्वत के जिस स्थान पर खड़े होकर तपस्या की थी उस स्थान को भी वे वहीं दिखलाते हैं। 'हंदियगुंडु' 'पांडवरवट्टल' आदि स्थानों को और तत्रत्य एक शिवालय को वे अर्जुन का महादेव के प्रत्यक्षीकरण का स्थान बताते हैं। यहाँ के 'मलिमल्लप्प' नामक पहाड़ के ऊपर सुप्राचीनकाल के मकानों एवं बहुत पुराने जमाने के अनेक कब्रस्तानों के चिह्न दृष्टि-गोचर होते हैं। हैदराबाद आर्कियोलॉजिकल विभाग के डाइरेक्टर का मत है कि इस तरह के कब्रस्तान ईजिप्ट, यूरप खण्ड के कुछ भाग, एसिया माइनर, सिन्ध, बंगाल एवं निजाम-राज्यान्तर्गत रायगिरि आदि स्थानों में पाये गये हैं। परन्तु हैदराबाद आर्कियोलॉजिकल सीरिज नं० १२ (कोप्पलद कन्नड शासनगलु) के विद्वान् सम्पादक, मद्रास-प्रान्त के शासन-विभाग के सुपरिन्टेन्डेन्ट श्रीमान् सी० आर० कृष्णमाचार्लु का अभिप्राय है कि स्थानीय जनता में प्रचलित इन कब्रस्तानों के नाम को परम्परागत एवं सार्थक मान लेने पर इन्हें

* यह 'कर्णाटक साहित्य-परिषत्पत्रिका' भाग २२, अंक ३ में प्रकाशित श्रीमान् स्वर्गीय ना० भा० शास्त्री के लिखे इसी शीर्षक के कन्नड लेख का सारांश है।

—के० बी० शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इधर मौर्यकाल तक खींच लाना समुचित होगा। इस पहाड़ के आस-पास भी कुछ प्राचीन चिह्न दृष्टिगत होते हैं।

महाराज नृपतुंग (सन् ८१५—८७५) और महाकवि रन्न (सन् ९९३) की उक्तियों से यह एक बहुकालीन प्रख्यात महानगर तथा पवित्र तीर्थ सिद्ध होता है। यह बात षिकारिपुर के नं० ३१७ (सन् १२०५) के शिलालेख से भी पुष्ट होती है। चावुंडरायपुराण के 'असिधारा-व्रतदिंदे' इस पद्य से अवगत होता हैं कि तत्कालीन जैनी कोपण में सल्लेखनापूर्वक देह-त्याग करना विशेष पुण्यप्रद मानते थे। कुमारसेन मुनि के पवित्र जीवन को अङ्कित करने के सुअवसर पर भी इन्होंने कोपण को उक्त मुनि महाराज का मुक्तिस्थान (?) बतलाकर इस स्थान की प्रशंसा की हैं। इस से भी व्यक्त होता है कि उस समय कोपण का माहात्म्य अतिशय समुज्ज्वल था। वास्तव में भारतीयों को पवित्र एवं पुण्यतम स्थान तीर्थक्षेत्र ही हैं। स्थानीय 'चंद्रबंडे' में प्राप्त एक शिलालेख एवं श्रवणबेल्गोल के नं० ३८४ (सन् ११३५ लगभग) और ३४५ (सन् ११५६) के लेखों में कोपण को क्रमशः तीर्थ, आदितीर्थ तथा महातीर्थ कहा गया है। श्रवणबेल्गोल के नं० ४७५ का एक अन्य शिलालेख यहाँ तक लिखता है—कोपण तीर्थ के उच्चारणमात्र से मानो कैवल्य की प्राप्ति होती है। नगरतालुक के नं० ४६ (सन् १५३० लगभग) का एक लेख भी कोपण को तीर्थों में अग्र स्थान प्रदान करता है। साथ ही साथ ज्ञात होता है कि इसी कोपण में आहवमल्ल एवं राजेन्द्रदेव चोल में युद्ध हुआ था। क्योंकि सर जॉन माल्कम साहब और नंजुंडदेव कवि (सन् १५२५ लभगग या ७०) के वाक्यों से सिद्ध होता है कि पुरातन समय में यहाँ पर एक सुदृढ़ दुर्ग मौजूद था। दक्षिण आर्काट जिला के कद्दलूरु तालुक के 'मंजकुप्पं' एवं 'तिरुवल्लं' इन स्थानों में प्राप्त चोलराज राजेन्द्रदेव के दूसरे और तीसरे साल के शिलालेखान्तर्गत उक्त युद्धवर्णन से भी कोपण ही इन शासकों का रणक्षेत्र सिद्ध होता है। डा० फ्लीट ने इन शिलालेखों का जो अर्थ किया है वह सी० आर० कृष्णमाचार्लु के मत से सर्वथा भ्रमपूर्ण है। डा० साहब ने कोल्हापुर की आग्नेय दिशा में लगभग ३० मील दूरी पर कृष्णानदी के तट पर अवस्थित 'खिद्रापुर' को ही चालुक्य-राज प्रथम आहवमल्ल एवं चोलराज राजेन्द्रदेव की युद्धभूमि अनुमान की थी। पर कृष्णमा-चार्लु इस कोपण या कोप्पल को ही उल्लिखित शासकों का संग्राम-क्षेत्र मानते हैं।

स्थानीय जनश्रुति एवं अन्यान्य ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पहले कोपण में असंख्य भव्य जिनमन्दिर मौजूद थे। इन मन्दिरों में निम्नलिखित बारह मन्दिरों के नाम ऐतिहासिक-रीत्या सिद्ध हो चुके हैं:—

(१) सान्तलदेवि बसदि (२) तिमम्बरसि बसदि (३) तीर्थ बसदि (४) अरसि बरदि (५) नागदेव बसदि (६) दण्णायक बसदि (७) चन्द्रनाथ बसदि (८) शान्तिनाथ बसदि (९) कुश बसदि (१०) पुष्पदन्त बसदि (११) जयधीर बसदि (१२) नेमिनाथ बसदि।

अब यह विचार करना है कि उक्त वे असंख्य जिनमन्दिर हुए क्या? कोपण जब

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

महा तीर्थ-रूप में था, ज्ञात होता है कि उस प्राचीनतम काल में वर्तमान दुर्ग एवं नगर के बाहर की चहार-दीवाली आदि नहीं रहे होंगे। पता नहीं लगता कि विद्यमान दुर्ग तथा चहार-दीवाली किसने बनवायी। यह चहारदीवाली चालुक्य-कालीन कला के ढंग की हैं। मालूम होता है कि पीछे से बीजापुर के बादशाह एवं टीपू सुल्तान के किलेदारों (दुर्गपतियों) ने इसका जीर्णोद्धार करवाया। नगर और पर्वत के ऊपर के जैनमन्दिर नष्ट होने पर इन्हीं के पत्थरों से नगर के बाहर एवं पहाड़ के ऊपर के प्राकार बन गये हैं। यह केवल तर्क की बात नहीं है; जहाँ-तहाँ इनमें मन्दिर के महाद्वार में अंकित जिनप्रतिमायें एवं चित्रमय स्तंभ आदि मन्दिर के अन्यान्य भाग प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राकार के दक्षिण भाग में उपस्थित 'कोरविय कोत्तल' की दीवाल पर बीस से ऊपर शिला-लेख और शिलालेखों के टुकड़े चुने हुए हैं। इनमें कतिपय शिलालेख विशुद्ध काले पत्थर के हैं। इन शिलालेखों की लिपियाँ नवमी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक की हैं। इनके अतिरिक्त उजले पत्थर के भी कुछ स्तम्भ एवं शहतीर आदि में खुदी हुई लिपियाँ छठी शताब्दी की हैं। बल्कि इसे 'कोरविय कोत्तल' न कह कर 'शासन कोत्तल' कहना ही अधिक समुचित प्रतीत होता है। दीवाल बनानेवालों ने इन शिलालेखों का जैसे-तैसे ऊपर-नीचे, टेढ़ा-सीधा स्वेच्छानुसार उपयोग किया है।

पूर्वकाल में कोपण में कृष्ण-शिलानिर्मित अति सुन्दर जिनालय भी अनेक मौजूद थे यों अनुमान करना निराधार नहीं है। दुर्ग में वर्तमान वेंकटेश देवालय के महाद्वार के दक्षिण पार्श्व में अन्दर 'पौलि' (अर्थात् मन्दिर के सामने का हिस्सा) में एवं वाम पार्श्व में स्थित सार्वजनिक 'श्रीगजाननवाचनालय' में जो सुन्दर कलापूर्ण श्वेतप्रस्तराङ्कित चार स्तम्भ मौजूद हैं इनके चारो ओर पर्यङ्कासनमण्डित कई जिनबिम्ब ही इसके लिये उज्ज्वल दृष्टांत हैं। ऐसे ही स्तम्भ दुर्ग के दक्षिण भाग में वर्तमान कृष्णमन्दिर तथा सिरसपै मठ के शिवालय और इसके बाहर भी उपलब्ध होते हैं। पूर्वोक्त वेंकटेश देवालय भी जिनालय के ढंग का है। महाद्वार में वर्तमान जिनबिम्बों को प्रायः तोड़ एवं उनके गड्ढों को मसाले से भर कर अब वह श्रीकार लिखने के काम में लाया जाता है। निजाम कर्णाटक इतिहास संशोधक समिति के संग्रहालय में बीस अंगुल लंबा, सोलह अंगुल चौड़ा और चार फूट लंबा, दो फूट चौड़ा ऐसे काले पत्थर की दो पटियाँ रक्षित हैं। इनमें प्रत्येक अंगुल पर एक-एक सुलक्षण जिनबिम्ब खुदा हुआ है। स्थानीय डगूकन बावि—डगूक का कुंआ भी ध्वंश जिनालयों के पत्थरों से ही बंधा हुआ हैं। मगर ये पत्थर श्वेतजिनालयों के हैं। यों पत्थर तो खुरदरा हैं फिर भी इसका हस्तकौशल दर्शनीय है।

इस प्रकार सम्राट् अशोक (ई० पू० २७२) के समय से बौद्ध साधुओं के विहार, जैन-मुनियों के मन्दिर, दुर्ग, प्राकार आदि समरोत्साह से योद्धाओं का रणक्षेत्र एवं विशुद्ध कन्नड-वाङ्मय का क्षेत्र बनने का सौभाग्य जिस कोपण को प्राप्त हुआ था वह वर्तमान कोप्पल ही है—यों निर्विवाद सिद्ध हुआ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आचार्य वादिराज और उनकी रचनाएं

[लेखक—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

दिगम्बर जैन साहित्यके रचयिता ग्रन्थकारों और टीकाकारोंमें आचार्य वादिराजका भी वही स्थान है जो अकलंक आदि आचार्योंका है। आचार्य वादिराज अपने समयके एक प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् थे। सिद्धान्त-शास्त्रके अच्छे मर्मज्ञ विद्वान् होते हुए भी व्याकरण, काव्य, कोष और अलंकारादि विषयोंमें आपकी अच्छी गति थी। साथ ही, आप एक साहित्यिक, कवि और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। आपकी कविता बड़ी ही सरस तथा हृदय-ग्राहिणी है और प्रासादादि गुणों से युक्त है। आपके उपलब्ध काव्य-ग्रन्थोंका रसास्वादन करने और "न्याय-विनिश्चय-विवरण" नामकी टीकाकी भली भांति अवलोकन करने से आपकी विद्वत्ता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है। साथ ही, आपकी चमत्कारिणी बुद्धि और सर्वतोमुखी प्रतिभा का भी दिग्दर्शन हो जाता है। और इसीलिये आपकी षट्तर्क-षण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादि आदि अनेक उपाधियाँ थीं जैसा कि निम्न शिलावाक्यसे प्रकट है :—

"षट्तर्कषण्मुखस्यं स्याद्वादविद्यापतिगलुं जगदेकमल्लवादि-
गलुं एनिसिद श्रीवादिराज देवरुम्।"

Vide N. 36 Nagar Taluq Mr. Riec.

वादिराज सूरि सभामें बोलनेके लिये अकलंकदेवके समान हैं और कीर्तिमें न्यायबिन्दु आदि प्रसिद्ध तार्किक ग्रन्थोंके कर्त्ता बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिके समान हैं। वचनोंमें बृहस्पति (चार्वाक)के समान हैं और न्यायवादमें अक्षपाद (गौतम)के समान हैं। इस तरहसे वादिराज इन भिन्न-भिन्न धर्म-गुरुओंके एकीभूत प्रतिनिधित्वके समान शोभित होते हैं *।

इसके सिवाय, वादिराजसूरिकी विद्वत्ता आदिके विषयमें श्रवणबेल्गोलकी 'मल्लिषेण-

---

* सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्ति —
वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः।
इतिसमयगुरूणामेकतः संगतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः॥

(Vide, Ins. N. 39, Nagar Taluq by: Mr. Rice)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रशस्ति' नामक शिलालेखमें, जो शक संवत् १०५० और वि० सं० ११८५ में उत्कीर्ण हुआ है, लिखे हुए प्रशंसात्मक पद्योंसे स्पष्ट जाना जाता है कि वादिराज अपने समयके एक प्रसिद्ध तार्किक और वादविजेता विद्वान् थे—उनके सामने प्रवादियोंका गर्व चूर हो जाता था—राजा जयसिंहकी राजधानी सिंहपुरमें उनका विशेष प्रभाव एवं महत्त्व विद्यमान था। और वे उस समयके प्रायः सभी विद्वानोंमें शिरोमणि गिने जाते थे। 'मल्लिषेणप्रशस्ति'के उन प्रशंसात्मक पद्योंको लेखवृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है। उनमेंसे सिर्फ एक पद्य यहां नमूनेके तौरपर दिया जाता है और वह इस प्रकार है :—

आरुद्धाम्बरमिन्दुबिम्ब-रचितौत्सुक्यं सदा यद्यश—
श्छत्रं वाक्चमरीजराजि-रुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।
सेव्यः सिंहसमर्च्य-पीठ-विभवः सर्व्व-प्रवादि-प्रजा
दत्तोच्चैर्जयकार-सार-महिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥

अर्थात् जिनका यशो-रूपी छत्र आकाशमें व्याप्त था और जिसने चन्द्रमाको उत्सुकता उत्पन्न कर दी थी—अर्थात् उनका यश चन्द्रमासे भी अधिक समुज्ज्वल था। स्तुतिवाक्यरूपी चमरसमूहकी किरणें जिनके कानोंके समीप पड़ती थीं। तथा जयसिंह नरेशसे जिनका सिंहासन पूजित था और सर्व प्रवादि-प्रजा उच्चस्वरसे जिनका जय-जय कार गाया करती थी ऐसे आचार्य वादिराज विद्वानों के द्वारा सेवनीय हैं।

एकीभावस्तोत्रके अन्तमें किसी कविके द्वारा बनाया हुआ एक पद्य वादिराजकी प्रशंसामें निम्न प्रकार से पाया गया है :—

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः ॥

अथात् जितने वैयाकरण हैं, जितने नैयायिक हैं, जितने कवि हैं और जितने भव्य सहायक हैं वे सब वादिराजसे पीछे हैं अर्थात् वादिराजके समान वैयाकरण, नैयायिक और कवि नहीं हैं।

आचार्य वादिराज नन्दिसंघके आचार्य थे। उनके अन्वयका नाम अरुंगल था*। परन्तु यह नंदिसंघ वह नंदिसंघ नहीं है जिसकी गणना चार संघोंमें की गई है, अपि तु यह द्रमिल अथवा द्राविड संघका एक भेद है जिसकी स्थापना आचार्य पूज्यपाद या देवनन्दीके

* श्रीमद्रमिलसंघेऽस्मिन्नंदिसंघेऽस्त्यरङ्गलः।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवाराशिपारगः ॥

(Vide, Ins. N. 39 Nagar Taluq.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शिष्य वज्रनन्दीने की थी और जिसकी गणना इन्द्रनंदीके कथनानुसार पांच जैनाभासोंमें§ की जाती है।* जान पड़ता है कि द्राविड़ देशमें होनेके कारण ही उसका नाम 'द्राविड-संघ' पड़ा है।

आचार्य वादिराजकी जन्मभूमि, पितृकुल और जीवन-संबंधी घटनाओं आदिका कोई भी परिचय उपलब्ध नहीं होता जिससे उनके जीवन-संबंधमें यथेष्ट प्रकाश डाला जा सके। परन्तु फिर भी 'पार्श्वनाथचरित' आदिकी प्रशस्तिसे इतना तो निश्चित ही है कि आचार्य वादिराज सिंहपुरके निवासी त्रैविद्येश्वर श्रीपालदेवके प्रशिष्य और मतिसागर मुनिके शिष्य तथा सुप्रसिद्ध 'रूपसिद्धि'† नामक ग्रन्थके कर्ता दयापाल मुनिके सब्रह्मचारी‡ या सहाध्यायी थे+।

'पंचबस्ति' के तृतीय शिलालेखमें जो कि 1147 A. D. और विक्रम सं० १२०४ का खुदा हुआ हैं वादिराजको गंगवंशीय राचमल्ल चतुर्थ, सत्यवाक्यका भी गुरु लिखा है जो 977 A. D. या वि० सं० १०३४ में गद्दीपर बैठा था और समर-केशरी चामुण्डराय जैन जिसका सेनापति था।×

आचार्य वादिराज का समय प्रायः विक्रमकी ११वीं शताब्दी सुनिश्चित है क्योंकि वादिराज-ने स्वयं अपने 'पार्श्वनाथचरित'की प्रशस्तिमें ग्रन्थ-निर्माणका समय शक संवत् ९४७ (विक्रम सं० १०८२) दिया हैं। जिससे उनका समय ११ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध ही मालूम होता है। वह प्रशस्ति निम्न प्रकार है:—

श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थनित्यावगाहामलबुद्धिसत्त्वैः।
प्रसिद्धभागी मुनिपुंगवेन्द्रैः श्रीनन्दिसंघोऽस्ति निवर्हितांहाः॥ १॥

---

§ बाबू हीरालालजी एम० ए० के मत से यह संघ इन जैनाभासोंसे भिन्न नन्दिसंघके ही अंतर्भुक्त है। देखें 'जैनशिलालेख-संग्रह' भू० पृष्ठ १४८। —के० वी० शास्त्री

* गोपुच्छकः श्वेतवासो द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छकश्चेति पंचेति जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥
(नीतिसारे इंद्रनंदी)

† हितैषिणो यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धः सतां मूर्धनि यः प्रभावैः॥

‡ 'एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः। अमरकोशः—ब्रह्मवर्ग, श्लोक नं० ११।

+ यस्य श्रीमतिसागरो गुरुरसौ चञ्चद्यशश्चन्द्रसूः
श्रीमान्यस्य स वादिराजगणभृत्सब्रह्मचारी विभोः।
एकोऽतीव कृती स एव हि दयापालव्रती यन्मन—
स्यास्तामन्यपरिग्रहग्रहकथा स्वे विग्रहे विग्रहः॥
देखें, श्रवणबेल्गोल-मल्लिषेण-प्रशस्ति।

× देखो, मिडियावल जैनिज्म, पृष्ठ ४७।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तस्मिन्नभूदुद्यतसंयमश्रीस्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः ।
सूरिः स्वयंसिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ॥ २ ॥
तस्याभवद्भव्यपयोरुहाणां तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः ।
निषेधदुर्मार्गनयप्रभावः शिष्योत्तमः श्रीमतिसागरस्य ॥ ३ ॥
तत्पादपद्मभ्रमरेण भूम्ना निःश्रेयसः श्रीरतिलोलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथा निबद्धा जैनी स्वबुद्ध्येयमनिर्दयापि ॥ ४ ॥
शाकाब्दे नगवार्धिरंध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥ ५ ॥
लक्ष्मीवासे वसतिकटके कट्टगातीरभूमौ
कामावासिप्रमदसुभगे सिंहचक्रेश्वरस्य ।
निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यंदसिंधुप्रबन्धो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकांतपुण्यः ॥ ६ ॥

भावार्थ—श्रीजैनवाङ्मय रूपी पुण्यतीर्थमें अवगाहन करनेसे निर्मल बुद्धिरूप सत्त्व जिन्हें प्राप्त हुआ है, ऐसे मुनिश्रेष्ठोंके द्वारा यह निर्दोष नन्दिसंघ प्रसिद्ध हुआ है ।१। उस प्रसिद्ध नंदिसंघमें अद्भुत संयमरूप लक्ष्मीवाले और त्रैविद्य-विद्याधरोंके द्वारा जिनकी कीर्ति गाई गई है तथा न्यायमार्ग पर चलनेवाले, सिंहपुरमें एक अद्वितीय 'श्रीपालदेव' नामके एक प्रसिद्ध आचार्य थे ।२। उनके भव्यरूपी कमलोंके अंधकारको नष्ट करनेवाले तथा जिनकी लक्ष्मी निरन्तर ही उदयको प्राप्त है और जो कुमार्गरूपी नयके प्रभावका निषेध करने वाले हैं ऐसे श्रीमतिसागर नामके शिष्योत्तम प्रधान शिष्य हुए ।३। उनके चरण कमलोंके भ्रमर अर्थात् शिष्य और मुक्तिरूपी लक्ष्मीके लोलुप वादिराजने इस जैनी निर्दृष्ट कथाको स्वयं अपनी बुद्धिसे रचा है ।४। आचार्य वादिराजने इस 'पार्श्वनाथचरित'को क्रोधन संवत्सरमें शक सं० ९४० वि० सं० १०८२ में कार्तिक मासकी शुद्ध तृतीयाके दिन राजा जयसिंह नरेशकी राजधानी सिंहपुरमें उनके राज्यशासन कालमें—बना कर समाप्त किया है वह तुम्हारे कल्याणके लिये हो ।५। जिस समय राजा जयसिंहकी राजधानी कट्टगानदीके+ किनारेपर लक्ष्मीवास नामक स्थानमें धन-धान्य तथा हर्षादिसे परिपूर्ण थी, उस समय पार्श्वनाथ जिनपतिके जीवन-वृत्तान्तोंसे अद्वितीय पुण्यवर्धक और नवरसरूप अमृतके बहावसे निकला हुआ यह सिन्धु-प्रबन्ध भले प्रकार जयवंत हो ।६।

इतिहासका अवलोकन करनेसे मालूम होता है कि जयसिंह नरेश पश्चिमी चालुक्य

+ प्रयत्न करनेपर भी यह मालूम नहीं हो सका कि यह 'कट्टगा' नदी कहाँ पर है ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वंशमें हुए हैं। यह अच्छे प्रतापी, न्यायप्रिय और शासन-व्यवस्थामें दक्ष थे। पृथिवी-वल्लभ, महाराजाधिराज परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर, परम भट्टारक और जगदेकमल्ल आदि उपाधियोंके धारक थे। इन्हें तृतीय जयसिंह कहते हैं‡। इनके समयके अनेक शिलालेख और ताम्रपत्र पाये जाते हैं। परन्तु उनसे उनके राज्यारोहण आदिका कोई निश्चित समय उपलब्ध नहीं होता। उन सब शिलालेखोंमेंसे सबसे पहला लेख शक सं० ९३८ (वि० सं० १०७३) का है और सबसे पिछला शक सं० ९६४ (वि० सं० १०९९) का है. जिससे इतना तो सहज ही में निश्चय हो जाता है कि राजा जयसिंह ने शक संवत् ९३८ से ९६४ तक २६ वर्ष राज्य किया है। और उसके बाद उनके राज्य का उत्तराधिकारी उनका पुत्र सोमेश्वर (आहवमल्ल) हुआ था।

राजा जयसिंह बड़ा पराक्रमी-शूरवीर और धर्मात्मा था। इसे विद्या से विशेष प्रेम था, इसी कारण 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' में जयसिंह की राजधानी को 'वाग्वधूजन्मभूमौ' पद दिया हुआ है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जयसिंह नरेशकी राजधानीमें विद्याकी विशेष गूंज थी, और वहाँ बड़े बड़े वाग्मी, कवि, नैयायिक एवं प्रतिभासम्पन्न वादी विद्वान् रहते थे। इसके राज्यमें आचार्य वादिराजने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी और जयसिंह नरेश-द्वारा इन्हें 'जगदेकमल्लवादि' नामका विरुद भी प्राप्त हुआ था।

शक संवत् ९४५ पौष कृष्ण दोयजके एक शिलालेखसे तो यह बात भी जानी जाती है कि राजाओंके राजा जयसिंहने—जो भोजरूपकमलके लिये चन्द्र और राजेन्द्रचोल (परकेशरीवर्मा) हाथीके लिये सिंहके समान था। मालवावालोंके सम्मिलित सैन्यका पराजय किया—उन्हें शिकस्त दी—और चेर तथा चोलवालोंके लिये भी सज़ा दी।*

यद्यपि यह बात निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती कि जयसिंह नरेश जैनी थे, परन्तु उनकी जैनधर्ममें श्रद्धा ज़रूर थी और वह आचार्य वादिराजकी तपस्या, विद्वत्ता और उनकी काव्य-शक्ति पर अतिशय मुग्ध थे। वे उनका उचित सम्मान करते थे। इसी कारण जैनधर्म और उनके अनुयायियोंपर उनकी विशेष कृपा-दृष्टि रही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है। वे उन्हें केवल आदरकी दृष्टिसे ही नहीं देखते थे किन्तु उनकी भक्ति भी करते थे। इसीलिये 'मल्लिषेण-प्रशस्ति'में 'सिंहसमर्च्यपीठविभवः' पद वादिराजके प्रति विशेषणरूपसे दिया हुआ है, जिससे जयसिंह नरेश-द्वारा उनके सम्मानित होनेका स्पष्ट समर्थन होता है। और यही

‡ देखो, मिडियावल जैनिज्म, पृ० ४७।

* परन्तु कई ऐतिहासिक विद्वान् इस बातसे सहमत नहीं हैं कि जयसिंह नरेशने राजा भोजको हराया था।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कारण है कि आचार्य वादिराजने प्रायः अपनी सभी ग्रन्थ-रचनाएँ जयसिंह नरेशकी राजधानीमें ही की हैं*।

आचार्य वादिराजकी इस समय तक छह कृतियोंका पता चलता है। एकीभावस्तोत्र, पार्श्वनाथचरित, काकुत्स्थचरित, यशोधरचरित, न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय। शेष पाँचों उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे ४ प्रकाशित भी हो चुके हैं और एक न्यायविनिश्चयविवरण अभी मुद्रित नहीं हुआ है। और काकुत्स्थचरित उपलब्ध नहीं हुआ है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

एकीभावस्तोत्र

यह एक छोटा सा संस्कृतका स्तोत्र ग्रंथ है जिसकी श्लोक-संख्या सिर्फ २५+ है, छन्द मन्दाक्रान्ता है। यह स्तोत्र सरस और भक्तिरसरूप-माधुर्यसे ओत-प्रोत है। इसको एकबार पढ़ कर फिर छोड़नेको जी नहीं चाहता। दि० जैनसमाजमें इसका विशेष आदर है। कहा जाता है कि इस स्तवनके माहात्म्यसे—आचार्य वादिराजका कुष्ठरोग दूर हो गया था ‡

* 'न्यायविनिश्चय-विवरण' और पार्श्वनाथ बस्तिकी प्रशस्तिपरसे यह बात स्पष्ट रूपसे जानी जाती है।

+ एकीभावस्तोत्रके अन्तमें एक पद्य और भी पाया जाता है जिसमें आचार्य वादिराजकी खूब प्रशंसा की गई है। उसकी रचना आदि परसे स्पष्ट जाना जाता है कि यह श्लोक स्वयं वादिराजका बनाया हुआ नहीं है, किन्तु उनके किसी शिष्य-द्वारा बनाया हुआ जान पड़ता है; इसी लिये उसे मूल ग्रन्थ में शामिल नहीं किया गया है।

‡ इसकी कथा संक्षिप्त रूपसे इस प्रकार है :—

सुनते हैं एक समय आचार्य वादिराजको कुष्ठ रोग हो गया था। राजा जयसिंहके दरबारमें जब इस बातकी चर्चा चली तब वहाँ बैठे हुए एक गुरुभक्त श्रावकसे पूछे जानेपर उसने गुरु निन्दाके भयसे कह दिया कि हमारे गुरु वादिराज कोढ़ी नहीं हैं। इसपर बहुत देर तक बहस एवं ज़िद्द हुई। अन्तमें यह स्थिर हुआ कि महाराज स्वयं चलकर वादिराजको देखेंगे। गुरुभक्त श्रावकने उस समय कह तो दिया परन्तु पीछेसे उसे बड़ी चिन्ता हुई। अतः और कोई उपाय न देखकर, गुरुजीके पास जाकर उससे अपनी सब भूल प्रकट कर दी और कहा कि अब लाज रखना आपके ही हाथ है। तब उसके चित्तकी घबड़ाहट दूर करते हुए आचार्य श्रीने कहा कि चिन्ताकी कोई बात नहीं है, धर्मके प्रसादसे सब ठीक हो जायेगा। कहते हैं कि आचार्य वादिराजने उसी समय 'एकीभावस्तोत्र' की रचना प्रारंभ कर दी, उस स्तवनके प्रभाव एवं माहात्म्यसे वादिराजका कुष्ठ रोग दूर हो गया और शरीर सुवर्ण जैसी कान्तिवाला बन गया। दूसरे दिन राजा जयसिंहने जब जाकर वादिराजको स्वयं देखा, तो उनका शरीर विकार-रहित सुवर्ण सी कान्तिवाला था, उस समय उनके शरीरमें व्याधिका कोई भी चिन्ह अवशिष्ट न था यह देखकर उन्होंने उस पुरुषकी ओर रोषभरी दृष्टिसे देखा जिसने दरबारमें उक्त बातका जिक्र किया था। मुनिराजने राजाकी इस रोषभरी दृष्टिको पहिचानकर कहा कि राजन्! उस पुरुषपर गुस्सा न कीजिये, उसने ज़रा भी असत्य नहीं कहा है,—उस समय मैं सचमुच कोढ़ी था और धर्मके प्रभावसे आज ही मेरा कुष्ठ दूर हुआ है और रोगका कुछ अंश अब भी इस कनिष्ठिका अंगुलीमें मौजूद है। राजाको यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और भक्तिपूर्वक नमस्कार कर नगरको वापिस लौट आये।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

और उनका कुछ आभास 'एकीभावस्तोत्र'के चतुर्थ पद्यसे स्पष्ट जाना जाता है। वह पद्य इस प्रकार है:—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या-
त्पृथ्वी-चक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिरुरु स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥४॥

अर्थ—हे भगवन्! स्वर्गलोकसे माताके गर्भमें आनेके छह महीने पहलेसे ही जब आपने इस पृथ्वी-मण्डलको सुवर्णमय कर दिया, तब ध्यानके द्वारसे मेरे सुन्दर अन्तर्गृहमें प्रवेश कर चुकने पर यदि आप मेरे शरीरको सुवर्णमय कर दें तो इसमें क्या आश्चर्य है? इसके सिवाय, एकीभावस्तोत्र* के ३ रे, ५ वें और ७ वें पद्यका भाव भी इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है।

पार्श्वनाथ चरित †

यह एक संस्कृतका काव्य-ग्रन्थ है। इसमें १२ सर्ग हैं। इस ग्रन्थमें वादिराजने अपनेसे पूर्व होनेवाले कुछ—ग्रन्थकर्ताओंका, उनकी कृतियों आदिके साथ स्मरण किया है। उनके नाम इस प्रकार है—गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, अकलंक, वादिसिंह, सन्मति, जिनसेन, अनंतकीर्ति, पाल्यकीर्ति, धनंजय, अनंतवीर्य, विद्यानंद और वीरनंदी। यह ग्रन्थ काव्यकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ और कमठके जीवन-वृत्तान्तके साथ-साथ, कमठके द्वारा होनेवाले उपसर्गोंको जीत कर परमात्मपद-प्राप्तिका कितना ही सुन्दर एवं सरस वर्णन है। यद्यपि मेरी इच्छा थी कि पार्श्वनाथचरितके कुछ चुने हुए सुन्दर पद्योंका पाठकोंको रसास्वदन कराऊँ, परन्तु लेख-वृद्धिके भय और अनवकाशके कारण ऐसा नहीं कर सका। पाठकोंसे अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थका अभ्यास कर उसकी विशेषताएँ मालूम करें।

काकुत्स्थचरित

यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। परन्तु नामसे मालूम होता है कि इस ग्रन्थमें संभवतः रामचन्द्रजीका चरित वर्णित होगा; क्योंकि 'काकुत्स्थ' शब्द रामचन्द्र और रघुवंशके लिये भी आता है। ग्रन्थकारने स्वयं इसके बनानेका उल्लेख 'यशोधरचरित'के प्रथम सर्गके छठवें श्लोक में किया है—

* यह स्तोत्र संस्कृत-हिन्दी टीका के साथ शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

† यह ग्रन्थ 'माणिकचंद्र ग्रंथमाला' में नं० ४ पर प्रकाशित हो चुका है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम् ।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा यशोधरी कथा ॥

इसमें बताया है कि जिसने पार्श्वनाथपति और काकुत्स्थचरित की रचना की, उसी वादिराजने यह यशोधर चरित बनाया है। परन्तु न मालूम यह ग्रन्थ किस भाण्डारकी कालकोठरीमें दीमक कीटकादिका भक्ष्य बना होगा। अस्तु, जिनवाणीके प्रेमियोंका कर्तव्य है कि वे इसकी खोज-कर प्रकाशमें लाएँ, जिससे इस विषयका निर्णय हो जाय।

यशोधरचरित

उक्त दोनों काव्य-ग्रन्थोंका निर्माण होनेके बाद इस ग्रन्थकी रचना की गई है और इस बातको इस काव्यमें स्वयं ग्रन्थकारने सूचित किया है। यशोधरचरित संस्कृतका एक छोटा सा चतुःसर्गात्मक काव्य-ग्रन्थ है। इसमें महाराज यशोधरका चरित बड़ी ही खूबीके साथ वर्णित है। ग्रन्थकी भाषा सरल और सुपाठ्य है। रचना-सौन्दर्य देखते ही बनता है। कथनशैली रोचक और हृदयस्पर्शिनी है।

न्यायविनिश्चय-विवरण

सातवीं शताब्दीके सुप्रसिद्ध आचार्य अकलंकदेवका 'न्यायविनिश्चय' नामका ग्रन्थ बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथपर आचार्य वादिराजने एक विस्तृत टीका लिखी है, जिसका नाम न्यायविनिश्चयविवरण अथवा 'तात्पर्यविद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला'* है। यह टीका बहुत ही अच्छी और विषयको स्पष्ट करनेवाली है! इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण, उपयोगी और प्रमेय-बहुल है। परन्तु इसकी महत्ता और उपादेयताको वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने जैनदर्शनका, स्याद्वाद और अनेकान्त-वादके रहस्यका अच्छी तरहसे परिशीलन या अनुभव किया है।

इस ग्रन्थमें कितने ही मतोंका—विद्वानों और उनकी मान्यताओंका, सयुक्तिक खण्डन किया गया है। और जैनदर्शनकी मान्यताओंका बड़ी खूबीके साथ—अनेकान्त-पद्धतिसे तथा विवे-चनात्मक रूपसे मंडन किया गया है। न्याय-विनिश्चयविवरणमें—बौद्धविद्वान् धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, उम्बेक, शबर, विश्वरूप, सुमतिदेव, वेदमस्तक, व्योमशिव, भासर्वज्ञ, विन्ध्यावासिन्, मण्डनमिश्र, कुमारिल, आत्रेय, धर्मोत्तर और शान्तभद्र आदि विद्वानोंकी मान्यताओंका निरसन किया गया है। खासकर, धर्मकीर्तिके 'प्रमाणवार्तिकालंकार' और प्रज्ञाकरके वार्तिकालंकारके भिन्न-भिन्न स्थलोंका आनुपूर्वीसे खण्डन किया गया है। साथ ही, 'हेतुबिन्दु' और अर्चटकी

* न्यायविनिश्चयविवरण-प्रशस्तिमें इसी नामका द्योतक पद्य इस प्रकार है—
व्याख्यानरत्नमालेयं स्फुरन्नयदीधितिः। (?)
क्रियतां हृदि विद्वद्भिस्तुदंती मानसं तमः॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

टीकाका भी यत्र-तत्र निरसन पाया जाता है। इसके सिवाय, समन्तभद्र आदि जैनाचार्योंकी युक्तियोंको प्रमाणरूपमें उद्धृत किया गया है।

इस ग्रन्थमें 'स्याद्वादमहार्णव' नामके एक न्यायग्रन्थका एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

यथोक्तं स्याद्वादमहार्णवे—

सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिक्रियानुमेया स्याद्यूनाकान्तासमागमे ॥

परन्तु प्रयत्न करने पर भी मुझे यह मालूम न हो सका कि यह ग्रंथ कहां है, किस आचार्यका बनाया हुआ है और उनका परिचय क्या है? यद्यपि यह पद्य अष्टसहस्रीमें भी पाया जाता है, परन्तु उससे ग्रन्थ व ग्रंथकर्ता आदिका कोई पता नहीं चलता है। फिर भी, यह न्यायका कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अवश्य मालूम होता है। इस ग्रन्थके विषयमें अन्वेषण होना चाहिये, जिससे उक्त ग्रन्थ कालकोठरियोंसे बचकर प्रकाशमें आजाय। आशा है, धर्मप्रेमी और जिनवाणी-भक्त सज्जन इसकी खोज करनेका प्रयत्न करेंगे। इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिके निम्न पद्यसे भी यह बात निश्चित हो जाती है कि इस टीकाकी रचना भी राजा जयसिंहकी राजधानी में ही हुई है। यथा:—

श्रीमज्जयसिंहमहीपतेः परिषदि प्रख्यातवादोन्नति—
स्तर्कन्यायतमोपहोदयगिरिः सारस्वतः श्रीनिधिः।
शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपःश्रीभृतां
भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥१॥

प्रमाणनिर्णय

आपका छठा ग्रन्थ 'प्रमाणनिर्णय' है। यह न्याय-विषयका एक स्वतंत्र ग्रन्थ है, इसमें प्रमाण, प्रत्यक्ष, परोक्ष और आगम नामके चार परिच्छेद है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेदके अन्तिम श्लोकमें 'देव'के मतका संक्षिप्त दिग्दर्शन इसमें कराया गया है। इस ग्रन्थकी रचना 'न्यायविनिश्चय'की 'व्याख्यान-रत्नमाला' नामकी टीकाके बादमें हुई है; क्योंकि पृष्ठ १६ पर दिये हुए उद्धरणके साथ एक कारिकाभी उद्धृत की गई है जिससे इस बातकी पुष्टि हो जाती है। उद्धरण-सहित वह कारिका इस प्रकार है :—

"अतएव परामर्शात्मकत्वं स्पष्टत्वमेव मानसप्रत्यक्षस्य प्रतिपादितमलङ्कारे"।

इदमित्यादियज्ज्ञानमभ्यासात्पुरतः स्थिते।
साक्षात्कारणन्तत्र प्रत्यक्षं मानसं मतम् ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यह ग्रन्थ न्याय-शास्त्रके जिज्ञासुओं के लिये बहुत उपयोगी हैं। आशा है कि पाठक-गण आचार्य वादिराजके ग्रन्थोंका परिशीलन करेंगे।

इसके सिवाय पं० नाथूरामजी प्रेमी पार्श्वनाथचरितकी भूमिकामें लिखते हैं कि एक सूचीपत्रमें वादिराजके चार और ग्रन्थोंके नाम मिलते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—रुक्मणियशोविजय, वादमंजरी, धर्मरत्नाकर और अकलंकाष्टक-टीका, परन्तु ये ग्रन्थ अभीतक मेरे देखने में नहीं आये। इसलिये, ये ग्रन्थ जबतक सामने न हों, तब तक इनके देखे बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि इनके कर्त्ता यही वादिराज हैं या अन्य कोई दूसरे वादिराज नामके विद्वान् हैं। क्योंकि वादिराज नामके कई विद्वान् हो गये हैं।

१ एक वादिराज पोमराजके पुत्र हुए हैं—जिन्होंने 'ज्ञानलोचन' नामका स्तवन बनाया है।

२ एक वादिराज 'अध्यात्माष्टक' और 'वाग्भटालंकार टीका'के कर्त्ता हुए हैं।

३ एक वादिराज 'यशोधरचरित' कर्नाटकके कर्त्ता हुए हैं।* संभव है उन ग्रन्थोंके कर्त्ता इनमेंसे कोई एक वादिराज हो और यह भी संभव है कि शायद उन ग्रन्थोंके कर्त्ता भी यही वादिराज हों। अस्तु उन ग्रन्थोंका परिशीलन किये विना निश्चय रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

वीरसेवामंदिर, सरसावा
ता० २०-८-१९३९

* कन्नड 'यशोधरचरित' के कर्त्ता वादिराजका पता नहीं लगता है। —के० बी० शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विविध-विषय

(१)

'नयविवरण' के सम्बन्ध में

'भास्कर' भाग ६, किरण १ में, "नयविवरण का कर्ता कौन है ?" शीर्षक का पं० सुमेरचन्द्र जी दिवाकर का एक छोटा सा निबन्ध प्रकाशित हुआ है। दिवाकर जी ने प्रथमगुच्छक में 'नयविवरण' के नाम से मुद्रित कारिकाओं का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की कुछ कारिकाओं से मिलान कर के यह निष्कर्ष निकाला है कि नयविवरण विद्यानन्दिस्वामी की ही अमूल्य रचना है। जहां तक मुझे स्मरण है, 'जैनहितैषी' की किसी फाइल में 'नयविवरण' के संबंध में एक लेख मेरे दृष्टिगोचर हुआ था, और संभवतः उसके लेखक पं० जुगल किशोर जी मुख्तार थे। उसमें भी संभवतः यही निष्कर्ष निकाला गया था। वास्तव में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के 'प्रमाणनयैरधिगमः' और 'नैगमसंग्रह' इत्यादि सूत्र की वार्तिकों के साथ 'नयविवरण' की वार्तिकों का मिलान करने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि किसी विद्वान् ने उक्त सूत्रों की वार्तिकों को अपनी समझ के अनुसार सङ्कलित कर के, उनमें प्रतिपादित विषय के अनुरूप उसका 'नयविवरण' नाम रख दिया है, जो सर्वथा अनुरूप है।

'नयविवरण' में मुद्रित नं० ५ की जो कारिका मुद्रित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में नहीं पाई जाती, हमारे विद्यालय के अकलंक-सरस्वती-भवन की लिखित प्रति में मौजूद है जिसका क्रम निम्न प्रकार है—

"स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।
स्वार्थैकदेशनिर्णीतलक्षणो हि नयः स्मृतः ॥

'नयः प्रमाणमेव स्वार्थव्यवसायकत्वादिष्टप्रमाणवत्, विपर्ययो वा, ततो न प्रमाणनयोर्भेदोऽस्ति, येनाभ्यर्हितेतरता चिन्त्या', इति कश्चित्, तदसत्, नयस्य स्वार्थैकदेशलक्षणत्वेन स्वार्थनिश्चायकत्वासिद्धेः।

स्वार्थांशस्यापि वस्तुत्वे तत्परिच्छेदको नयः।
प्रमाणमन्यथा मिथ्याज्ञानं प्राप्तः स इत्यसत् ॥

स्वार्थैकदेशोऽपि यदि वस्तु तदा तत्परिच्छेदी नयः प्रमाणमेव, वस्तुपरिच्छेदलक्षणत्वात् प्रमाणस्य। स न चेद्वस्तु, तद्विषयो मिथ्याज्ञानमेवं स्यात्, तस्यावस्तुविषयत्वलक्षणत्वात् इति चोद्यमसदेव, कुतः।"

इस प्रकार नं० ५ की कारिका की समस्या सुलझ जाती है। 'नयविवरण' के अन्त में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एक पद्य और मुद्रित है, जो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में नहीं पाया जाता। श्रीयुत पं० के० भुजबली जी शास्त्री इसे संग्रहकर्ता का समझते हैं।‡ किन्तु वह पद्य प्रातःस्मरणीय श्रीभगवद् भट्टाकलंक के 'न्यायविनिश्चय' नामक प्रकरण का प्रथम परिच्छेद का दूसरा पद्य है। न्याय-कुमुदचन्द्र की भूमिका* में मैंने उसे उद्धृत भी किया है। प्रकरणों के अन्त में प्रायः इस प्रकार के पद्य देने की पुरानी रीति है। संग्रहकार ने 'नयविवरण' को एक प्रकरण बनाने में जो कुछ कमी थी, उसे भट्टाकलंक के उक्त पद्य को उद्धृत कर के पूरा कर दिया जान पड़ता है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि 'नयविवरण' संग्रह है। अतः अब वही बात जानना शेष रह जाती है कि इसके संग्रह करने का श्रेय किसे प्राप्त है? विभिन्न शास्त्र-भाण्डारों की खोज करने पर यदि नयविवरण की कुछ प्रतियाँ मिल सकें तो सम्भवतः उनसे उसके संग्रहकर्ता के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

---

(२)

हिन्दी के दो 'हरिवंश पुराण'

श्रीशांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर अलीगंज के शास्त्रभाण्डार में श्रीजिनसेनाचार्य्यकृत 'हरिवंशपुराण' की भाषा वचनिका के अतिरिक्त उसकी दो छन्दोंबद्ध रचनायें भी हमें देखने को मिली हैं। एक रचना का नाम 'हरिवंशपुराण चौपई' है, जिसे गृहस्थाचार्य श्रीशालि-वाहन ने रचा है। यथानाम इस ग्रन्थ में ओतप्रोत प्रायः चौपई छंद का ही प्रयोग किया गया है। इसकी यह हस्तलिखित प्रति १२६ पत्रों में पूर्ण हुई है, जो १२ इञ्च लम्बे और ५॥ इञ्च चौड़े हैं तथा प्रत्येक पत्र में प्रायः ११-१२ पंक्तियां हैं। इस रचना का आरंभ निम्न लिखित पद्यों से होता है:—

"प्रथम वंदि श्रीरिषभजिणंद, जा सुमरंतहि होय आनंद।
वंदू गणधर सरस्वती माय, जा प्रसाद बहु बुधि पसाय ॥१॥"

सालिवाहन जी ने मूल संस्कृत ग्रन्थ में वर्णित भाव का अनुसरण कर के यह रचना रची है—उनकी अपनी चीज़ इसमें प्रायः कुछ नहीं है। यों इसे संस्कृत ग्रन्थ का हिन्दी पद्यानुवाद कहना चाहिये। अन्त में कवि ने इस रचना का प्रसंग और अपना परिचय यों

‡ वह तो मेरा अनुमानमात्र था। खैर, प्रसन्नता की बात है कि शास्त्रीजी ने इस उलझन को सुलझा दिया है।

—के० बी० शास्त्री

* पृ० २६।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बतलाया है—

"संवत सोरहि सै तहां भये, तापरि अधिक पचानवै गये।
माघमास किसन पक्ष जानि, सोमबार सुभवार बषानि ॥५५॥
हस्त नक्षत्र जोग सुभ ठाम, जिनसेनु पुरानु सुनो मैं नाम।
ताकी छाया लै चौपई करी, अतिसै सहित जगत विस्तरी ॥५६॥
भट्टारक जगभूषण देव, गनधर सादृस वाकि जु एह।
छंद कवित कावि जो करै, सुनि कै पंडित मन मै धरै ॥५७॥
देवगिरा भाषै सम कोय, कवयनु ताकौ सेवग होय।
नगर आगिरौ उतिम थानु, साहिजहां तपै दूजो भानु ॥५८॥
षंड-षंड में ताकी आंन, चोर चवार न सुनीयें कान।
तिहि पुर बहुतै पंडतवासु, रावत वाहन तिनकौ दास ॥५९॥
ग्यारहि गोंत बसैं अधिकाय, पूजा दानु धरम अधिकाय॥

संवत् १६९५ में सालिवाहन जी ने यह रचना रची और उसे शायद अपने गुरु भ० जगद्भूषणदेव को बताया। यह भट्टारक जी विशेष विद्वान् थे। कविजनों द्वारा मान्य थे। सालिवाहन जी ने आगरे का उल्लेख किया है कि वह एक उत्तम स्थान है—उनके समय में शाहजहां का सुखमय राज्य था। लोगों में देवनागरी भाषा बोलने का रिवाज था – आगरे में तब बहुत-से पण्डित रहा करते थे। सालिवाहनजी को उनकी सत्संगति सुलभ थी। जैनियों में वहां ११ गोत्र के लोग सर्वथा धर्मकर्म में रत रहा करते थे। संभवतः गोत्र से कवि का भाव जैनियों की उपजातियों से है। आगे कवि ने लिखा है :—

"दूजो देश भदावर जानि, कंचनपुरु दीसै सुभथानु ॥६०॥
हरिसिंघ सेव (देव) राजु तहां करै, ताकै साह तीनि संचरै।
चेतू भागमल्लु दुर्गादास, उदित दानु बहुत परगास ॥६१॥
तिनके गेह सिलावती नारि, तिन ए पुत्र तीनों अवधारि।
लक्ष्मी सभौ धरम-निधान, रामचंद जैनी परधान ॥६२॥
संकर जादौ जगजीवन जानि, विनैसिंघ कौ कहौं प्रमानि।
उग्रसेन अजित अतिनाम, रुपवंत दिनकरि सुततास ॥६३॥
और कुटुंब बरन जो करौं, बाढ़े कथा बेद अनुसरौं।
रावत षरगसेन तिहि थान, ईसुर त्रिया परधान (?) ॥६४॥
तीन पुत्र ताके प्रवीन, भीसेन हीरामनि धरमलीन।
बाहन करी चौपई बंधु, हीन बुध मेरी मति अंधु ॥६५॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

और बहुत लंबेचू रहैं, पूजा दान धरम रुचि रहै।
तिनकी संगति उद्यम भयो, नौ नाटक रस इन मैं ठयो ॥६७॥
लालचंद जैनी भव्य जानि, तिन उपदेस कहौ कछु आनि।
सुन कै भव सुर्ग सुष गहै, पायकालु मुक्तिकौं लहै ॥६८॥

भदावर देश के कंचनपुर नामक नगर में हरिसिंहदेव नामक राजा राज्य करते थे। उन के तीन राजसेठ साहु चेतू, भागमल और दुर्गादास थे। यह वहां के जैनियों का एक खास वंश था। वहीं पर रावत खरगसेन भी रहते थे, जिनके तीन पुत्र (१) भीमसेन (२) हीरामनि और (३) सालिवाहन थे। वह सब लंबेचू जैनी थे। इन्हीं सालिवाहन ने यह 'हरिवंशपुराण चौपई' रचा।

अन्त में लिपिकार ने लिखा है, "संवत् १८०६ वर्ष वैशाष सुदी अष्टमी ८ शनिवासरे लिखितं ॥ श्री मंडलाचार्य काष्ठासंघ श्रीदीपकीर्तिजी तस्य शिष्य पांडे कान्हां पठनार्थं ॥ धर्मे मतिर्न भवति किं बहुन श्रुतं वा। जीव दया न भवति किं बहुधा प्रदानैः ॥ शांतिर्मनिः न भवति किं बहुभिस्तपोभिः। आरोग्यमस्तुविभवो न चलेन किं वा ॥१॥ शुमं भवतु सदा ॥"

दूसरी रचना 'हरिवंशपुराण भाषा' कवि खुशालचंद-कृत है। इसकी प्रति में कुल १७६ पन्ने हैं, जो १३ इञ्च लम्बे और ६॥ इञ्च चौड़े हैं। इसके प्रत्येक पत्र में ११ या १२ पंक्तियां हैं। इसका प्रारंभ निम्नलिखित पद्यों से हुआ है :—

'महावीर बंदू जिनदेव, इन्द्रादि करिहै तिनसेव।
तीनलोक मैं मंगलरूप, ते बंदू जिनराज अनूप ॥१॥
नेमीसुर बंदू चितलाइ, तिहुं जगकरि पूज्य अपाय।
पाप बिनाशन है जिननाम, सब जिनवर बंदू गुणधाम ॥२॥ इत्यादि"

कवि ने इसकी रचना में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है और कविता भी सुंदर तथा ललित है। प्रशस्ति में कवि ने लिखा है :—

"तहां श्रीजिनदास जूं, ग्रन्थ रच्यो इह सार :
सो अनुसार खुस्याल ले, कह्यौ भविक सुषकार ॥३५॥"

इस पद से प्रतीत होता है कि कवि खुशाल ने ब्रह्म जिनदास-रचित "हरिवंशपुराण' के अनुसार अपना यह ग्रन्थ रचा है—श्रीजिनसेनाचार्य के 'हरिवश' का पद्यानुवाद यह नहीं है। आगे कवि ने लिखा है :—

"देश ढुंढाहड जानौ सार, तामें धर्मतनो विस्तार ॥
विसनसिंह सुत जैसिंह राय, राजकरै सबको सुखदाय ॥१॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

देशतणो महिमा अति घणी. जिनगेहा करि अति ही बनी ।
जिनमंदिर भवि पूजा करै, केई इक वृत लै कै इक धरै ॥२॥
जिनमंदिर करवावै नया, स्वर्ग विमान थकी वरछवा ॥
रथ जात्रादि होत बहु जहाँ, पुन्यउ पावैं भवगण तहां ॥३॥
इत्यादिक महिमा जुत देश, कहि न सकौं मैं और असेस ।
जामैं पुर शांगावति जानि, धर्म उपावन कौ वरथान ॥४॥
जाकौ शोभा है अधिकार, कब लौं भाषौं भवि विस्तार ।
जा मधि श्रीमूलनायक थान, सोभै भवन कौं सुषषानि ॥५॥
संघ मूलसंघ जाँनि गछ सारदा वषाँनि, गण जु बलात्कार जाणौं मन लायकै ।
कुंदकुंद मुनो की आमनाय मांहि भए देव, इन्द्रकीरत सुपट्टसार पाय कै ॥६॥
पंडित सु भए तहाँ नाम लछिमी सुदास, चतुर विवेको श्रुतज्ञान कौं उपाय कै ।
तिनै थकी मैं भी कछू अभ्यसो सुज्ञानलयौ, फेरि मैं बस्यौ जिहानाबाद मध्य आयकै ॥७॥

कवि के समय में ढुंढाहड देश में जिसे हम आजकल जयपुर राज्य कह सकते हैं, श्रीजयसिंह राजा राज्य कर रहे थे। उनके रा य में प्रजा अति प्रसन्न थी। जैनी अपने धर्म का खूब पालन करते थे—नये जिन-मन्दिर बनवाने और रथयात्रादि करवाने के लिए वह पूर्ण-स्वाधीन थे। उसी देश में सांगावति (सांगानेर) नामके नगर में मूलसंघी, पण्डित लखमीदास रहते थे। कवि खुशालके वह विद्या-गुरु थे। उनके पाद-मूल में सद्ज्ञान प्राप्त करके खुशाल जी जहानाबाद चले आए और वहीं रहने लगे। वहां का वर्णन कवि निम्नलिखित पद्यों में करते हैं :—

"शहर जिहानाबाद में जैसिंह पुरौ सुथान।
मैं बसियौ सुषतैं सदा जिन सेऊं चित आँनि ॥८॥
महम्मद शा पातिशाह राज करिहै सु चकत्थौ !
नीतिवंत बलवान न्याय विनि ले न अरत्थौ ॥
ताके राज-मझार ग्रन्थ आरंभिह कीनों।
पर को भय दुष शोक कभू हम कोइ न लीनों ॥
इह विचारि राजातणौ इतनू ही उपकार है।
कोऊ दुष्ट पुरुष दंडि न सकै जिनमत को विस्तार है ॥९॥
शहर मध्य इक वणिकवर, साह सुषानंद जाँनि।
ताके गेह विषैं रहैं, गोकुलचंद सुजान ॥१०॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जिन ढिग मैं जाऊं सदा, पढौं सुशास्त्र सुभाय।
तिनको वर उपदेश लै, मैं भाषा बनवाय ॥११॥
× × ×
काला जाति खुश्याल सुजान, भाषा रची परम सुखदान ॥१२॥
संवत् सतरा सै अरु असी, सुदि वैसाषी तीजावर लसी ॥१३॥
सुक्रबार अति ही शुभ जोग, सार नषत्तर कौ संजोग ॥१४॥
× × × ×
श्रीहरिवंशमच्छास्त्रं[तस्य भाषा विनिर्म्मित
नाम्ना षुश्यालु चंद्रेण भव्यनाषुशालुसर्मदा ॥१८॥"
लिपि सं० १८४४ लिखितं जवाहर विप्रेण।

जहानाबाद उस दिल्ली का नाम था जिसे बादशाह शाहजहां ने बसाया था—उस समय दिल्ली इसी नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। ‡ कवि खुश्याल ने इसीलिए उसका प्राचीन नाम नहीं लिखा है। वह एक बड़ा शहर था—वहीं के जैसिंहपुरा महल्ले में वह जाक बसे थे। मालूम होता है कि उस महल्ले में जैनियों की अच्छी आवादी थी और वहाँ जिन-मंदिर भी था—जहाँ कवि जिनेन्द्र की पूजा किया करते थे। वहाँ उस समय कवि बतलाते हैं कि महमदशा पातिशाह शान्तिपूर्वक शासन करते थे, जो चकत्थावंश के थे। इतिहास से पता चलता हैं कि अन्तिम मुग़ल बादशाह महमदशाह नामक थे, जिन्होंने सन् १७१९ से १७४९ ई० तक राज्य किया था। कवि ने अपना यह 'हरिवंश पुराण भाषा' संवत् १७८० अर्थात् सन १७२३ ई० में समाप्त किया था। अतः कवि ने जिन महमदशाह का उल्लेख किया है वह मुग़ल बादशाह ही प्रतीत होते हैं। कवि रायमल्ल जी ने 'जम्बूस्वामीचरित्र' में सम्राट् अकबर को भी चकत्ता वंश का बताया है और कवि खुशाल भी महमदशाह को चकत्था लिखते हैं। इसलिए यह ठीक है कि उन्होंने मुग़ल बादशाह महमदशाह के प्रारंभिक शासनकाल में अपना ग्रन्थ रचा था। उस समय दिल्ली में सुशासन का दौर-दौरा बतलाना उचित है। तब वहाँ सेठ सुखानंद के पुत्र सेठ गोकुल चंद रहते थे। कवि ने उन्हीं के उपदेश से यह ग्रन्थ रचा था। इस प्रकार हिन्दी के इन दो 'हरिवंश पुराणों' का सामान्य परिचय है।

—का० प्र०

‡ फ्रेन्च यात्री बरनियर ने जहानाबाद का वर्णन इस प्रकार लिखा है :—

"It is about forty years ago that *Chah-Jehan*, father of the present *Great Mogul Aureng-Zebe*, conceived the design of immortalising his name by the erection of a city near the site of the ancient *Delhi*. This new capital he called after his own name, *Chah-Jehan-Abad* or for brevity, *Jehan-Abad*; *i.e* the colony of *Chah-Jehan*. .....in the *Indies* they scarce speak any more of *Delhi*, but only of *Jehan-Abad*."—Bernier, Travels in the Mogul Empire, p. 241.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(३)

शहर मुड़ासा कहाँ था ?

अधिकांश दि० जैन मन्दिरों में विराजमान प्रतिमाओं पर अङ्कित लेखों का अवलोकन करने से पता चलता है कि सं० १५४८ में साह जीवराज पापड़ीवाल-द्वारा प्रतिष्ठा करवाई हुई प्रतिमाओं में शहर मुड़ासा और रावल शिव सिंह का उल्लेख हुआ मिलता है। श्री दि० जैन मन्दिर कटरा मैंनपुरी में विराजमान श्रीआदिनाथ की श्वेत पाषाणमूर्ति पर निम्न लिखित लेख इसी बात का द्योतक है —[१]

"सं० १५४८ वरषे वैसाष सुदी ३ श्रीमूलसंघ भट्टार जी श्रीभानुचन्द्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति सहर मुड़ासा श्रीराजा सवसिंघ।"

इसी प्रकार नयामंदिर कलकत्ता में विराजमान कई प्रतिमाओं पर निम्नलिखित लेख अंकित हैं—[२]

१ "संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीजिनचंद्रदेवाः साह जीवराज पापड़ीवाल शहर मुड़ासा।"

२ "संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदी ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक जी श्रीजिनचन्द्रदेव साह जीवराज पापड़ीवाल नित्यं प्रणमति राजा श्योसिंह रावल शहर मुड़ासा।"

किन्तु इन उल्लेखों से यह स्पष्ट नहीं है कि शहर मुड़ासा कहां पर स्थित था। श्री बाबू छोटेलाल जी ने इस विषय में लिखा था कि "यह मुड़ासा सम्भवतः राजपुताने में होना चाहिये। रावल की उपाधि भी राजस्थान-वासी क्षत्रिय राजाओं की ही प्रायः हुआ करती है। इन साह जीवराज ने सं० १५३३ में भ० अजयकीर्त्ति-द्वारा तथा सं० १५४८ में भ० जिनचन्द्र-द्वारा अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठित करवाई है।"[३] अवश्य ही इनकी प्रतिष्ठा करवाई हुई जिन प्रतिमायें गुजरात, राजपूताना, संयुक्त प्रान्त, बंगाल, मद्रास इत्यादि भारत के सब ही प्रदेशों में मिलती हैं। निश्चय ही साह जीवराज और शहर मुड़ासा धन्य थे कि जिनके अनुग्रह से जिन-पूजा उस काल में सर्वत्र सुलभ हुई थी! इस टिप्पणी में साह जीवराज जी के पुण्यमय निवास-स्थान का परिचय कराकर हम उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। इस विषय में बाबू छोटेलाल जी का अनुमान गलत नहीं है। राजस्थान की पश्चिमी सीमा के पेर अहमदाबाद से उत्तर पूर्व दिशा में पचास मील की दूरी पर मोड़ासा (Moḍāsā) नामक स्थान होने का उल्लेख मिलता[४]। कहा जाता है कि जब सन् १४१३

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० २, कि० २, पृष्ठ १५।

२ जैन प्रतिमा-यंत्र लेख संग्रह पृष्ठ १

३ पूर्व० प्रस्तावना पृ० 'ठ'।

४ 'Modasa, north latitude 23°29', east longitude 73°21' fifty miles north-east of Ahmedabad. — The Bombay Gazetteer, Vol. I, Pt. I, p. 237, F. N.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

में अहमदशाह ने अहमदाबाद बसा कर के अपना शासन आरंभ किया तब कुछ मुसलमान सरदार ईडर के हिन्दू राजा से मिलकर उसके खिलाफ बाग़ी हो गये। अहमदशाह के सेनापति फतह खां ने उनको लड़ाई में हरा दिया और ईडर से उन्हें मार भगाया। उस समय मोड़ासा में रुकन खां नामक मुसलमान सरदार शासक था। वह भी बागी हुआ था। ईडर के राजा रनमल भागकर वहीं जा रहे। उन्होंने मोड़ासा के क़िले को मज़बूत बनाया और उसके चारों ओर खाई खुदवाई। फतह खां मोड़ासा पर चढ़ गया और घेरा डाल दिया। परिणामतः मोड़ासा का क़िला गिर गया और बागी लोग इधर-उधर भाग गये। ईडर के रावल रनमल ने अहमदशाह से सन्धि कर ली और वह ईडर में रहकर आसपास के नगर-ग्रामों पर शासन करने लगे। ईडर से मोड़ासा क़रीब ५-६ मील की दूरी पर था। अहमद शाह भी वहां कुछ दिनों तक रहा था। इस सब साक्षी से स्पष्ट है कि मोड़ासा नगर ईडर के रावल राजाओं के आधीन था। उपर्युक्त प्रतिमा-लेखों में भी मुड़ासा नगर के शासक को रावल शिव सिंह लिखा है। ईडर के रावलों में शिव सिंह नाम के राजा भी हुये हैं। अतः ईडर के निकट स्थित उपर्युक्त मोड़ासा नगर ही साह जीवराज जी का पवित्र निवास-स्थान प्रतीत होता है, जहाँ पर संवत् १५४८ में अगणित जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराकर सारे भारत में वितरण कर दी गईं। क्या ही अच्छा हो, यदि ईडर के कोई महानुभाव अथवा और कोई सज्जन मुड़ासा नगर के ध्वंसावशेषों में जैन कीर्तियों का परिचय प्राप्त करके 'भास्कर' में प्रकट करें। —का० प्र०

---

(४)

श्रीमाल नगर का एक शिलालेख

वर्तमान जैनियों में श्रीमाल उपजाति के जैनी भी मिलते हैं। कहते हैं कि श्रीमाल नगर की अपेक्षा यह उपजाति इस नाम से प्रसिद्ध हुई थी। वर्तमान में बम्बई प्रान्त में जो भीनमाल नामक ग्राम (north latitude 24°42' East longitude 72°4') है वही प्राचीन श्रीमाल है। ईस्वी छठा शताब्दी से नवीं शताब्दी तक श्रीमाल को गुजरात के गुर्जर राजाओं की राजधानी होने का गौरव प्राप्त रहा था। वर्तमान आबू पर्वत से पश्चिम की ओर भीनमाल (श्रीमाल) पचास मील पर अवस्थित है। वहां पर अब भी कितनी ही पुरानी इमारतें मिलती हैं। श्रीपार्श्वनाथ का चार शिखरवाला मंदिर भी एक पुरानी इमारत है। इसी नगर में जयकोप नामक एक तालाब है। उसके उत्तरी किनारे पर एक गिरा हुआ स्तम्भ पड़ा हुआ मिला था, जिस पर संवत् १३३३ (सन् १२७७) का निम्नलिखित लेख अङ्कित था—

१ यः पुरात्र महास्थाने श्रीमाले सुसमागतः। स देवः श्री

२ महावीर.....भयत्राता (?) प्रज्ञा

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

३ यं शरणं गताः । तस्य वीरजिनेंद्रस्य प्रजार्थं शासनं नवं ॥२॥

—पो—

४ —रापद्ध महागच्छे पुण्य-पुण्य स्वभाविना (?) श्रीपूर्णचन्द्र सूरि-

५ —णा प्रसादात् लिख्यते यथा ॥ स्वस्ति सं० १३३३ वर्षे ॥

६ —अश्विन शुदि १४ सोमे ॥ अद्येह श्री श्रीमाले महाराजकुल

७ —श्री च (?) चिग देव-कल्याण-विजय राज्ये तन्नियुक्त महा-

८ —प्रभृति-पंचकुल-प्रतिपत्ताउ श्री श्रीमाल-देश वहिकाधिकृतेन

९ —नैगमान्वय-कायस्थ-महत्तंस-सुभटेन तथा (वे ?) चेटक कर्मसीहे —

१० —न स्वारेयसे अश्विनमासीय यात्रा महोत्सवे अश्विन् सुदि १४ च-

११ —तुर्दशी-दिने श्रीमहावीरदेवाय प्रतिवर्ष पंचोपचार—पूजानिमि-

१२ —त्तम् श्रीकरणीय पंचकुलं सेलहथ-डासी-नरपाल-वरक्ति-पूर्व-संवो-

१३ —ध्य-तलप-देंहल-सहठी-पद-म·····रल-सहठी

१४ —द ५ सत्यविशोपकोपे पंचद्रम्मा समा सेलहथा-भावये आठ

१५ —द्रम्म द्र० ८ अष्टौ द्रम्मः ॥ उभयं सप्तविसोपकोपेन त्रयोदशद्र-

१६ —म्मा अचंद्रार्क्कं देवदाये कारापिताः ॥ वर्तमान पंच कुलेन व—

१७ —र्त्तमान् सेलहायेन देवदाये कृतं इदं स्वश्रेयसे पालनीयं ॥

१८ यस्मान् पंचकुलो सर्वो मन्तव्यं इति सर्वदा । तस्य तस्य तदा श्रेयो

१९ यस्य यस्य यदा पदं ॥ ॥श्री सत्य-रत्न-पुर-लाट-हृदाधिकारी श्री

२० —माल-देश-वहिकाधिकृतो धुरीणः । व्यासेन चन्डहरिणा विदुषां व-

२१ —रेण योध्यापितः स विदधे सुभटः प्रशस्तिं ॥ठ॥

इयं गोगानुजाते—

२२ (-न) सूत्रधारेण धीमता । उत्कीर्णा भीमसीहेन शासनाक्षरमालिका

२३ ·····सन इदं मठपति महेन्द्रगोष्ठिक आचंद्र षतिपत्तौ ॥ठ॥

२४ ·····बससमय·····(लि)खितं तेन धीमता । यो वाचयति पुण्या-

२५ ·····शत————ती ॥ठ॥ म (ँ) गल सदाश्रीः ॥शिवमस्तु सम्य० ।"

भावार्थ—श्रीमहावीर देव महान् नगर श्रीमाल में पधारे थे, जिनकी शरण भयभीत विद्वज्जन लेते हैं—उन वीर जिनेन्द्र के अनुग्रह से यह नया शासन पुण्यात्मा पूर्णचंद्र-सूरि द्वारा प्रजा के लिये लिखा गया। स्वस्ति सं० १३३३ अश्विन सुदी १४ सोमवार को इस पुण्यमयी श्रीमाल में श्रीमहारावल श्रीचचिग के विजय राज्य में उनके द्वारा नियुक्त महा गजसिंह आदि पंचों में से नैगमवंश के प्रमुख कायस्थ महत्तर सुभट ने, जो श्रीमालदेश के वाहिकों पर शासनाधिकारी थे और कर्मसीह चेटक ने अपनी आत्मा के हित के लिये अश्विन

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सुदी १४ के महान् यात्रा उत्सव श्रीमहावीर प्रभु की पंचप्रकारी पूजा के वास्ते (कुछ दान किया)। पंच और सेलहथ इस दान की व्यवस्था रक्खें। सुभट श्रीसत्यपुर, रत्नपुर और लाटहीर का अधिकारी तथा श्रीमाल के वाहिकों पर शासनाधिकारी था। उसे चंडहरि पौराणिक ने शिक्षा दी थी और वह विद्वानों में श्रेष्ठ था—उसी ने यह प्रशस्ति रची है। गोगा के पुत्र भीमसीह सूत्रधार (बढ़ई) ने अक्षरों को उत्कीर्ण किया है।

इस लेख से भीनमाल में तेरहवीं शताब्दी में जैनधर्म के उत्कर्ष का पता चलता है। राजकर्मचारी भी जैनधर्मानुयायी थे। श्रीमाल में आश्विनी चतुर्दशी को जिनेन्द्र की रथयात्रा निकला करती थी—वहां पर पारापद्र संघ के आचार्यों का प्राबल्य था। राज्य की ओर से दान की व्यवस्था के लिये अधिकारी और पंच नियुक्त थे। जनता में उनकी प्रतिष्ठा थी। शासन-लेखक श्रीसुभट एक विद्वान् कायस्थ सज्जन थे—उन्होंने जिनेन्द्रपूजा के लिये दान किया था—उनका एक चेटक (नौकर) भी इस दान में शामिल था। जैनसंघ में सब ही जातियों के लोग शामिल थे, यह उस समय के जैनाचार्यों की विद्वत्ता का सुपरिणाम था। आज भी जैनसंघ का द्वार प्राणिमात्र के लिये खुला रहना चाहिये।

—का० प्र०

(५)

"जैन एण्टीक्वेरी" का सार

(भाग ४, किरण ४)

पृष्ठ १०१—१०८ प्रो० चक्रवर्ती ने अपनी तामिल-साहित्य-विषयक लेखमाला के इस अंश में तामिल के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुरल' के विषय में लिखा है कि आन्तरिक एवं बाह्य साक्षी से यह स्पष्ट है कि वह वैष्णव सम्प्रदाय का ग्रंथ न होकर जैनियों का ग्रंथ है। जैन टीकाकार नीलकेशी 'कुरल' को अपना (जैन) आगम-ग्रंथ बताते हैं। साथ ही तामिल में एक अजैन कवि-कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नामक ग्रंथ है—उसमें भी एक जैन संन्यासी अपने धर्म की व्याख्या में 'कुरल' का वह पद्य कहता बताया गया है जिसमें अहिंसा का विधान है। इससे स्पष्ट है कि कुरल की रचना जैनधर्म के अहिंसा-सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये ईस्वी पहली शताब्दी में की गई थी। नच्चिनार्क्किनियर-कृत कुरल की टीका जैनमतानुसार हैं। उसको ढूंढ़ कर प्रकाशित करने का प्रयत्न हो रहा है।

तामिल का दूसरा प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ 'नालडियार' भी जैनियों की रचना है। संभव है कि यह भद्रबाहु स्वामी के संघवर्ती मुनियों द्वारा रची गई हो। इसमें कुल ४०० पद्य हैं। इस ग्रन्थ में वर्णित सुभाषित वाक्यों को प्रत्येक सम्प्रदायवर्ती तामिलु सहर्ष स्वीकार करता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इसके अतिरिक्त 'अरनेरिच्चारम्'—'पलमोलि'—'तिनैमालै'—'नान्मणिक्कडिगै' और 'ईलाति' नामक उल्लेखनीय तामिल ग्रन्थ भी जैनों की रचनायें हैं; जिनका परिचय प्रो० सा० ने कराया है।

पृष्ठ १०९—१२३ डॉ० विमलचरण लॉहा ने 'विविधतीर्थकल्प' के आधार से कपर्दियक्ष, शुद्धदन्ति के पार्श्वनाथ, अवन्ती के अभिनन्दन देव, प्रतिष्ठानपुर, चम्पापुरी, पाटलिपुत्र नगर, श्रावस्तीनगरी, वाराणसी नगरी, श्रीमहावीर गणधर, कोटिशिलातीर्थ आदि का परिचय कराया है।

पृष्ठ १२५—१२७ श्रीगोविन्द पै ने प्रकट किया है कि श्रीवर्द्धदेव और तुम्बलूराचार्य संभवत एक व्यक्ति थे। तुम्बलूराचार्य ने अपनी 'चूडामणि' टीका दशवीं शताब्दी से पहले रची थी।

—कामता प्रसाद जैन

(६)

अपनी बात

गत किरण में "जैन रामायण का रावण" शीर्षक मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में मैंने जिन-जिन कृतियों से उद्धरण आदि लिये थे उन सबों का यथास्थान उल्लेख कर दिया है। फिर भी जैन रामायण-सम्बन्धी कथा आदि लिखने में जिन दो कृतियों से मैंने अधिक सहायता ली थी उन कृतियों एवं मान्य लेखकों का उल्लेख भूल से छपने में रह गया है। यह ऐसा हुआ—जब प्रेसवाले लेख का पेज बांधने लगे तब मैटर दो फर्मे से कुछ बढ़ गया। साथ ही साथ वे दो फर्मे से अधिक मैटर रख भी नहीं सकते थे; क्योंकि आगे का मैटर पहले ही छप चुका था। अतः उन्हें विवश हो दूसरे फर्मे का कुछ मैटर जहाँ तहाँ का निकालना पड़ा। फलतः निकाले हुए मैटर के साथ आवश्यक एवं अभीष्ट वह उल्लेख भी निकल गया, जिसका पता शीघ्रता में मुझे भी नहीं लगा।

अस्तु, मैं 'पंपरामायण-संग्रह'के भूमिका-लेखक श्रीयुत डी० एल० नरसिंहाचार एम० ए० एवं 'बालपद्मपुराण' के लेखक स्व० पण्डित पन्नालाल बाकलीवाल के अत्यन्त आभारी हूं।

—के० भुजबली शास्त्री

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहित्य-समालोचना

(१)

दादा श्रीजिनकुशल सूरि

लेखक—अगरचन्द नाहटा और भँवर लाल नाहटा; पृष्ठ संख्या ११४; मूल्य—चार आने; प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५-६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता।

यह एक ऐतिहासिक ढंग पर लिखा हुआ जीवनचरित्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि चरित्र-नायक जिनकुशल सूरि एक उत्तम सदाचार-सम्पन्न प्रभावशाली साधु थे। अन्यथा खरतरगच्छानुयायियों में आपके प्रति ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं हो सकती थी। मारवाड़, मेवाड़, मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध, एवं देहली आदि अन्यान्य स्थानों में श्रद्धालु भक्तों के द्वारा निर्मापित इनके १०८ स्तूप ही इस बात के लिये समुज्ज्वल निदर्शन हैं। भक्त जनता की इन स्तूपों की उपासना से अभीष्ट सिद्धि होती है यह किम्वदन्ती भी प्रचलित है। चारित्रबल के साथ-साथ सूरि जी का ज्ञानबल भी उच्चकोटि का रहा। इसके लिये इनकी भिन्न-भिन्न साहित्यिक कृतियाँ ही साक्षी हैं। दादा जी कई भाषाओं के ज्ञाता ही नहीं बल्कि उनके विशेष मर्मज्ञ भी थे। हाँ, आचार्य के प्रभाव के महत्त्व को बतलाने के लिये लेखकों ने कुछ चमत्कारिक घटनाओं का जो उल्लेख किया है, उन पर संभव है कि सर्व साधारण विश्वास न करें।

अस्तु, इतिहास प्रेमी नाहटा बन्धुओं का परिश्रम प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। उत्साही लेखकों को प्रस्तुत रचना में आये हुए निम्नलिखित शब्द द्वितीय संस्करण में शुद्ध कर देने चाहिये:—भागवती, भ्रातृ, गाड़े, तलहट्टिका, मूर्तिएं, भंडार, मुहुर्त्त, पृष्टरक्षक, प्रवृत्तियें आदि।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

जैनइतिहास (तीसरा भाग)

लेखक—पं० मूलचन्द जैन 'वत्सल' विद्यारत्न, दमोह; प्रकाशक मूलचन्द किसनदास कापड़िया चन्दाबाडी सूरत; पृष्ठ-संख्या—१२६; मूल्य—बारह आने; कागज, मुद्रण आदि साधारण।

यह 'सौ० सविता बाई मूलचन्द कापडिया स्मारक ग्रन्थमाला' की आठवीं कृति है। इसकी कुछ प्रतियाँ "दिगम्बर जैन" के ३१ वें वर्ष के ग्राहकों को भेंटरूप में भी दी गयी। यह प्रस्तुत इतिहास प्रकाशक के ही कथनानुसार सामान्य पढ़े लिखे हर कोई भाई या

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

बहन को उपयोगी हो इस बात का लक्ष्य करके ही तैयार कराया गया है। इसमें २९ पाठ दिये गये हैं। इनमें से अन्त के ५ पाठ श्रीयुत बाबू कामता प्रसादजी के हैं जो कि पहले से प्रकाशित हैं और अवशिष्ट खुद लेखक की ही रचनायें हैं। इन पाठों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक दोनों प्रकार की जीवनियाँ संकलित की गयी हैं। ये जीवनियाँ यदि दो भागों में विभक्त कर दी जातीं तो और अच्छा होता। इतिहास के नाते खास कर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर एवं भद्रबाहु जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनी भी ऐतिहासिक पद्धति से न लिख कर पौराणिक ढंग से लिखी गयी हैं—यह खटकता है। हाँ, बाबू कामता प्रसाद जी के द्वारा लिखी गयी अन्तिम ५ जीवनियाँ इतिहास-सूत्र के आधार पर ही हैं अवश्य, पर उनमें भी कुछ ऐसी बातें हैं जो कि प्रकृत इतिहासवेत्ता इन्हें प्रायः इतिहास-संगत मानने में आनाकानी करेंगे। इसमें सन्देह नहीं है कि कामता प्रसादजी की अविरत साहित्यसेवा वास्तव में प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। पुस्तक सरल एवं सर्वोपयोगी है।

—के० भुजबली शास्त्री

(३)

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

टीकाकार—पं० पन्नालाल जी 'वसंत' साहित्याचार्य ; प्रकाशक—सरल जैन ग्रन्थमाला, जब्बलपुर ; मूल्य—साधारण संस्करण पांच आने, विशिष्ट का सात आने; पृ० १२० ।

प्रारंभ में ग्रन्थकार का जीवन-चरित और रत्नत्रय वृत्त, युगपरिवर्त्तन, चारों गतियों और लोकालोकाकाश के काल्पनिक चित्र हैं और उनका परिचय भी। प्रत्येक श्लोक का अन्वय, अर्थ, कठिन शब्दार्थ और भावार्थ यथास्थान लिखे हैं। आवश्यक स्थलों पर टिप्पणी भी दी है। स्थल-स्थल पर गूढ़ार्थों का प्रकाश भी है। प्रत्येक परिच्छेद का प्रश्न-संग्रह, श्लोकों का आकारादि क्रम से सूची, कठिन-कठिन शब्दों का करंडों में संग्रह और अन्त में सम्यग्दर्शन आदि पांच विषयों पर निबंध है। यानी पुस्तक इतनी अच्छी लिखी गयी है कि विद्यार्थियों को अधिक जरूरत अध्यापकों की नहीं रही, न अध्यापकों को दिमाग-पच्ची की। स्वाध्याय-प्रेमी भी इस नोटबुक से काम निकालेंगे। पुस्तक का यह नवीन संस्कार हुआ है। लेकिन नवीन संस्कार करते-करते प्रचलित पाठों को गौण-सा कर दिया गया है और कल्पित पाठों एवं पाठान्तरों को प्रचलित पाठों के तख्त पर बैठाया गया है जो कहीं-कहीं बहुत ही सुन्दर हुआ है। जैसे 'इदमेवेदृशमेव' की जगह 'इदमेवेदृशं चैव' दृढ़ता लाता है। 'महाकुलाः' की जगह 'माहाकुलाः' भी श्लथत्व नहीं आने देता और न छन्दोभंग होने देता है। "माहाकुलाः" पाठ होने पर ही तृतीय चरण में १२ मात्राएं होती हैं, महाकुलाः पाठ में तो ११ मात्राएँ ही रह जाती हैं। पर कहीं-कहीं सौन्दर्य बिगड़ सा जाता है। जैसे 'आप्तेनोच्छिन्न' से

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आप्तेनोत्सन्न का उच्चारण क्लिष्ट हो जाता है। उच्छिन्न का अर्थ जितना सरल है "उत्सन्न" का नहीं। अब 'ज्ञान ध्यान-तपोरत्नः' का सौन्दर्य देखिये। रत्न भुलाने की चीज नहीं है; संभाल के रखना चाहिये नहीं तो गायब हो जाने का डर है। इससे रत्न की कीमत साधु जानता है, लेकिन है उससे अलग ही। जब कि—'ज्ञान-ध्यानतपोरक्तः' में वह ज्ञान-ध्यान-तप में रंग ही गया है। जिधर से देखो ज्ञान-ध्यान-तप का ही रंग है, वह तन्मय हो गया है। इसलिये मूलपाठ कहीं अच्छा है। फिर इस प्रसिद्ध-पद-त्याग के कारण एक गड़बड़ी होने का भय और है। अध्यापक जिन्हें कि—प्रसिद्ध पद कंठस्थ हैं वही मूल पाठ पढ़ावेंगे या परीक्षा-कापियों में इन पदों को ग़लत समझ कर काट देंगे— ऐसी भूल होनी संभव है। इसलिए इन कल्पित पाठों और पाठान्तरों को अलग ही दिखलाकर इनका गूढ़ तत्व भी लोगों को बतलाया जाता और मूलपाठ ज्यों का त्यों रखा जाता तो ये पाठ कुछ दिनों में प्रचलित भी हो जाते और लोगों को भ्रम भी न होता। दूसरे लोगों के आक्षेप का भय तो कभी का दूर हो जाता। पृष्ठ ४१ की टिप्पणी में अतिभारारोपण और अतिभार-वहन का अन्तर ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि 'दुःख देने की इच्छा से अधिक भार लादना' तो हिंसा ही हो जायगा। मेरे ख़याल से तो शक्ति का विचार न करके अधिक भार लाद देना (किसी दूसरे पशु या किसी आदमी के ऊपर) अतिभारारोपण है और लोभ-वश होकर अपने ऊपर ही काम का बोझ बढ़ा लेना अतिभार-वहन है। वहन के माने खुद ढोना और आरोपण के माने दूसरे पर लादना स्पष्ट ही है। ऐसे स्थलों का विचार कर शुद्धिपत्र बढ़ा देना चाहिए। प्रूफ तो सावधानी से नहीं पढ़ा गया मालूम होता है। मूल में भी इतनी अशुद्धियाँ है कि अलग शुद्धिपत्र की ज़रूरत है।

पुस्तक जितने परिश्रम से लिखी गयी है और जैसी बन गयी है, वैसी छपाई सफाई नहीं है। इस कोर्स की पुस्तक की तो स्कूली पुस्तकों की भांति खूब साफ सुथरी और सुन्दर होनी चाहिए थी।

प्रकाशक जी एक उत्साही सज्जन है, इसलिए आशा है कि वे इन त्रुटियों को भविष्य में अवश्य दूर करा देंगे।

—महेन्द्रकुमार जैन, काव्यतीर्थ

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

णिक्कंता भवणादो गब्भे सम्मुच्छकम्मभूमीसुं।
पज्जत्ते उप्पज्जदि णरेसु तिरिएसु मिच्छभावजुदा ॥१९५॥
सम्माइट्ठी देवा णरेसु पज्जत्तिकम्मभूमीए।
गब्भे पज्जत्तेसुं सलागपुरिसाण होंति कहियाइं ॥१९६॥
[1]सेसिमणंतरजम्मे णिव्वुदिगमणं हवंति केसिं पि।
संजमदेसवदाइं गेण्हंते केइ भवभीरू ॥१९७॥

। आगमणं गदं।

आवलिदसंखा केई णाणचरित्ते किलिट्ठभावजुदा।
भवणामरेसु आउं बंधंति हु मिच्छभावजुदा ॥१९८॥
अविणयसत्ता केई कामिणिविरहज्जरेण जज्जरिदा।
कलहपिया पाविट्ठा जायंते भवणदेवेसु ॥१९९॥
सण्णिअसण्णी जीवा मिच्छाभावेण सुंजुदा[2] केई।
जायंति भावणेसुं दंसणसुद्धा ण कइया वि ॥२००॥
मरणे विराधिदम्मि य केई कंदप्पकिब्बिसा देवा।
अभियोगा संमोहप्पहुदिसुरदुग्गदीसु जायंते ॥२०१॥
जे सच्चवयणहीणा हिंसं कुव्वंति बहुजणे णियमा।
कंदप्परत्तहिदया ते कंदप्पेसु जायंते ॥२०२॥
जे भूदिकम्ममत्ता भियोगकोदूहलाइसंजुत्ता।
जणवएणे पयट्टा वाहणदेवेसु ते होंति ॥२०३॥
तित्थयरसंघमहिमाआगमगंथादिएसु पडिकूला।
दुव्विणया णिगदिल्ला जायंते किब्बिससुरेसुं ॥२०४॥
उप्पहउवएसयरा विप्पडिवण्णा जिणिंदमग्गम्मि।
मोहेणं संमोदा[3] संमोहसुरेसु[4] जायंते ॥२०५॥
जे कोहमाणमायालोहासत्ता किविट्ठचारित्ता।
बहुएणुवद्धरुचिरे ते उप्पज्जंति असुरेसु ॥२०६॥
उप्पज्जंते भवणे उववादपुरे महारिहे सयणे[5]।
पावंति छपज्जत्तिं जादा अंतोमुहुत्तेण ॥२०७॥
अट्ठिसिरारुहिरवसा मुत्तपुरीसाणि केसलोमाइं।
चम्महमंसप्पहुदी ण होइ देवाण संघडणे ॥२०८॥

1 सेसिमणंतर (?); 2 संजुदा or सुजुदा (?); 3 संमूढा (?); 4 B S संमोहसुरे; 5 S सएणो।

वण्णरसगंधफासे अट्ठसयवेकुव्वदिव्वखंदा हि ।
गेण्हसु रोयवादिं उवविदि[1]कम्माणुभावेण (?) ॥२०९॥
उप्पण्णसुरविमाणे पुव्वमणुघाडिदं कवाडजुगं ।
उग्घडदि तम्मि समए पसरदि आणंदभेरिरवं ॥२१०॥
आयण्णिय भेरिरवं ताणं पासम्मि कयजयंकारा ।
पणमंति परिवारदेवदेवीउ पमोदभरिदाओ ॥२११॥
वायंता जयघंटापडहपडा किब्बिसा य गायंति ।
संगीयणट्टमागधदेवा एदाण देवीओ ॥२१२॥
देवीदेवसमूहं दट्ठूणं तस्स विम्हओ होदि ।
तक्काले उप्पज्जदि विभंगं थोवपच्चक्खं ॥२१३॥
मणुस्सतेरिच्छभवम्हि पुव्वे लद्धो ण सम्मत्तमणं पुरूवं ।
तिलप्पमाणस्स सुहस्स कज्जे चत्तं मए कामविमोहिदेण ॥२१४॥
जिणोवदिट्ठागमभावणिज्जं देसव्वदं गेण्ह य सोक्खहेदं ।
मुक्कं मए दुव्विसयत्थमप्पं सोक्खाणुरत्तेण विचेदणेण ॥२१५॥
अणंतणाणाणि चउक्कहेदुं णिव्वाणबीजं जिणणाहलिंगं ।
पभूदकालं धरिदूण चत्तं मए मयंधेण वधूणिमित्तं ॥२१६॥
कोहेण लोहेण भयंकरेणं मायापवंचेणं समच्छरेण ।
माणेण वंदंत[2]महाविमोहो मेल्लाविरो हं जिणणाहमग्गं ॥२१७॥
तत्तो ववसायपुरं पविसिय पूजाभिरोयजोग्गाइं ।
गहिदूणं दव्वाइं देवादेवेहिं संजुत्ता ॥२१८॥
णव्वि[3]दविचित्तकीडणमालावरचमरछत्तसोहिल्ला ।
णिब्भरभत्तिपसण्णा वच्चंते कूडजिणभवणं ॥२१९॥
पाविय जिणपासादं [4]चरमंगलतोरणं रइदहलबोला ।
देवा देवीसहिदा कुव्वंति पदाहिणं णमिदा ॥२२०॥
सिंहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिचारुणिभा ।
दट्ठूणं जिणप्पडिमा जयजयसद्दा पकुव्वंति ॥२२१॥
पडुपडहसंखमद्दलजयघंटाकलह[5]गीयसंजुत्ता ।
वाइज्जंतेहिं सुरा जिणिंदपूजा पकुव्वंति ॥२२२॥

1 B उवठिदि (?)। 2 बंधंत or वद्धंत (?); 3 णच्चिद (?); 4 वर (?); 5 S कलद, कहल (?)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भिंगारकलसदप्पणछत्तत्तयचमरपहुदिदव्वेहिं ।
पूजंति फलिहदंडोवमाणवरवारिधारेहिं ॥२२३॥
गोसीरमलयचंदणकुंकुमपंकेहिं परिमलिल्लेहिं ।
मुत्ताहलपुंजेहिं सालीए तंदुलेहिं सयलेहिं ॥२२४॥
वरविविहकुसुममालासणेहिं धूवंगरंगगंधेहिं ।
अमयादो मुहुरेहिं णाणाविहदिव्वभक्खेहिं ॥२२५॥
धूवेहिं सुगंधेहिं रयणपईवेहिं [1]दित्तकिरणेहिं ।
पक्केहिं फणसकदलीदाडिमदक्खादियफलेहिं ॥२२६॥
पूजाए अवसाणे कुव्वंते णाडयाइं विविहाइं ।
पवरच्छरापजुत्ताबहुरसभावाभिणेयाइं ॥२२७॥
णिस्सेसकम्मक्खवणंकहेदुं मणणंतया तत्थ जिणिंदपूजं ।
सम्मत्तविरयं कुव्वंति णिच्चं देवा महाणंतविसोहिपुव्वं ॥२२८॥
कुलाइदेवा इव मण्णमाणा पुराणदेवाण पबोधणेण ।
मिच्छाजुदा ते य जिणिंदपूजं भत्तीए णिच्चं णियमा कुणंति ॥२२९॥
कादूण दिव्वपूजं आगच्छिय णियणियम्मि पासादे ।
सिंहासणाधिरूढा ओलगसालंति देवा णं ॥२३०॥
विविहरतिकरणभाविदविसुद्धबुद्धीहि दिव्वरूवेहिं ।
णाणाविकुव्वणंबहुविलाससंपत्तिजुत्ताहिं ॥२३१॥
मायाचारविवज्जिदपकिदिपसण्णाहिं[2] अच्छराहिं समं ।
णियणियविभूदिजोग्गं संकप्पवसंगदं सोक्खं ॥२३२॥
पडुपडहप्पहुदीहिं सत्तसराभरणमहुरगीदेहिं ।
वरललितणच्चणेहिं देवा भुंजंति उवभोगं ॥२३३॥
ओहिं पि विजाणंतो अणणोण्णुप्पण्णपेम्ममूलमणा ।
कामंधा ते सव्वे गदं पि कालं ण याणंति ॥२३४॥
वररयणकंचणाए विचित्तसयलुज्जलम्मि पासादे ।
कालागरुगंधड्ढे रागणिधाणे रमंति सुरा ॥२३५॥
सयणाणि आसणाणि मउवाणि विचित्तरूवरइदाणि ।
तणुमणवयणाणंदणजणणाणि होंति देवाणं ॥२३६॥

1 दित्त (?); 2 AB परिकदि।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वासरसरूवचक्खूणि[1] गंधेहिं वड्ढियाणि सोज्जाणिं।
ओवयजुत्ता देवा तित्तिं ण लहंति णिमिसं पि ॥२३७॥
दीवेसु गागिंदेसु भोगखिदीए वि णंदणवणेसु।
वरपोक्खरिणीपुलिणत्थलेसु कीडंति राएण ॥२३८॥

। एवं सुहसरूवप्पं समत्तं।

भवणेसु समुप्पण्णा पज्जत्तिं पाविदूण छब्भेयं।
जिणमहिमदंसणेणं केई देविंददंसणदो ॥२३९॥
जादीए सुमरणेणं वरधम्मप्पबोहणावलद्धीए।
गेण्हंते सम्मत्तं दुरंतसंसारणासकरं ॥२४०॥

। सम्मत्तगहणं गदं।

जे केइ अण्णाणतवेहिं जुत्ता णाणाविहु[2]प्पाधिददेहदुक्खा।
घोरूण[3] सण्णाणतवं पि पावा डज्झंति जे दुव्विसयप्पसत्ता ॥२४१॥
विसुद्धलेस्साहि सुराउबंधं कोऊण[4] कोहादिसुघादिदाऊ।
सम्मत्तसंपत्तिविमुक्कबुद्धी जायंति एदे भवणेसु सव्वे ॥२४२॥
सण्णाणरयणदीओ लोयालोयप्पयासणसमत्थो।
पणमामि सुमइसामिं सुमइकरं भव्वलोगस्स ॥२४३॥

एवमाइरियपरंपरागयतिलोयपण्णत्तीए भवणवासियलोय-
सरूवणिरूवणपण्णत्ती णाम तिदियो
महाहियारो स०मत्तो ॥

इदं उवरि माणुसलोयसरूवं वण्णयामि—
लोयालोयप्पयासं पउमप्पहजिणवरं णमस्सित्ता[5]।
माणुसजगपण्णत्तीं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥१॥
णिद्देसस्स सरूवं जंबूदीउ त्ति लवणजलही य।
धादगिसंडो दीओ कालोदसमुद्दपोक्खरद्धाइं ॥२॥
तेसुं ठिदमणुयाणं भेदो संखा य थोवबहुअत्तं।
गुणठाणप्पहुदीणं संकमणं विविहभेयजुदं ॥३॥

---

1 B चब्भूणि; 2 विहुप्पादिद (?); 3 S धारूण, घेत्तूण (?); 4 काऊण (?); 5 णमंसित्ता (?)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आऊ बंधणभावं जोगिपमाणं सुहं च दुक्खं च ।
सम्मत्तगहणहेदू णिव्वुदिगमणाणा[1] परिमाणं ॥४॥

एवं सोलससंखे अहियारे एत्थ वत्तइस्सामो ।
जिणमुहकमलविणिग्गयणारजगपण्णत्तिणामाए ॥५॥

तसणालीबहुमज्झे चित्तायखिदीय उवरिमे भागे ।
अइवट्टो मणुवजगो जोयणाण पणदाललक्खविक्खंभो ॥६॥

जोयणलक्ख ४५०००००।

जगमज्झादो उवरिं तं बहलं जोयणाणि इगिलक्खं ।
णवचदुदुगखत्तियदुगचउक्केक्कम्हि तप्परिही ॥७॥

१००००० । १४२३०२४९ ।

सुण्णणभगयणपणदुगएक्कखत्तियसुण्णणवणहासुण्णं ।
छक्केक्कजोयणा विय अंककमे मणुवलोयखेत्तफलं ॥८॥

१६००९०३०१२५००० ।

वासकदी दसगुणिदा करणीपरिहिं च मंडले खेत्ते ।
विक्खंभयचउब्भागं पहदा सा होदि खेत्तफलं ॥९॥

अट्ठत्थाणं सुण्णं पंचदुरिगिगयणतिणहणवसुण्णा ।
अंबरछक्केक्कोहिं अंककमे तस्स विंदफलं ॥१०॥

१६००९०३०१२५०००००००० ।

। णिद्देसो गदा[2] ।

माणुसजगबहुमज्झे विक्खादो होदि जंबुदीउ त्ति ।
एक्कजोयणलक्खंविक्खंभजुदो सरिसवट्टो ॥११॥

जगदीविण्णासाइं भरहक्खिदी तम्मि कालभेदं च ।
हिमगिरिहिमवदा महाहिमवंहरिवरिसणिसहद्दी ॥१२॥

विजयो विदेहणामो णीलगिरी रम्मवरिसरुम्मिगिरी ।
हेरण्णवदो विजओ सिहरी एरावदो त्ति वरिसो य ॥१३॥

एवं सोलसभेदो जंबूदीवम्मि अंतरहियारो ।
वण्णं ताण सरूवं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥१४॥

1 गमणाणि (?); 2 गदो (?)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वेढेवि तस्स जगदी अट्ठं चिय जोयणाणि उत्तुंगा ।
दीवं तं मणियत्तं सरिसं होदूण वडयणिहा ॥१५॥—

जो ८।

मूले वारस मज्झे अट्ठ चिय जोयणाणि णिद्दिट्ठा ।
सिहरे चत्तारि पुढं जगदीमंदस्स परिमाणं ॥१६॥

१२ । ८ । ४ ।

दो कोसा अवगाढा तेत्तियमेत्ता हुवेदि वज्जमयं ।
मज्झे बहुरयणमवो सिहरे वेरुलियपरिपुण्णा ॥१७॥

कोस २ ।

तीए मूलपएसे पुव्वावरदो य सत्त सत्त गुहा ।
वरतोरणा य रामा अणाइणिधणा विचित्तयरा ॥१८॥
जगदीउवरिमभाए बहुमज्झे कणयवेदिया दिव्वा ।
बे कोसा उत्तुंगा वित्थिण्णा पंचसयदंडा ॥१९॥

को २ । दंड ५०० ।

जगदीउवरिमरुंदो वेदीरुंदं खु सोधिअद्धकदो ।
जं अद्धमेक्कपासे तं विक्खंभस्स परिमाणं ॥२०॥
पण्णरससहस्साणिं सत्तसया दंडधणूणि पण्णासा ।
अब्भंतरविक्खंभा बाहिरवासोधितंमेत्ता[1] ॥२१॥

१५७५० ।

वेदीदो पासेसुं उववणसुंडो[2] हवंति रमणिज्जा ।
वरवावीसंजुत्ता विचित्तमुणिआरपरिपुण्णा ॥२२॥
जेट्ठा दोसयदंडो विक्खंभजुदा हवेदि मज्झिमया ।
पण्णासं चहियसयं जघण्णवावी वि सयमेक्कं ॥२३॥

दं २०० । १५० । १०० ।

तिविहाउ वावीउ णिय[3]मंददसंसमेत्तमवगाढा ।
कइआरकमलकुवलयकुमुदो[4]मोदेहिं परिपुण्णा ॥२४॥

२० । २५ । १० ।

पायारपरिमदाइं वरमोउरदारतोरणाइं पि ।
अब्भंतरम्मि भागे महोरगाणं च चेट्ठंति ॥२५॥

1 वासो हि तंमेत्ता (?); 2 संडा (?) 3 णियमद्दोदस-(?); 4 कुमुदामोदेहिं (?)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पाठान्तरम्—

णयरेसु रमणिज्जा[1] पासादा होंति विविहविण्णासा।
अब्भंतचेत्तरया णाणावररयणणियरमया ॥२६॥
दीप्पंतरयणदीवा समंतदो विविहधूवघडजुत्ता ।
पणुहत्तरि चावाणिं उत्तुंगा सयधणूणि दीहजुदा।
पण्णासदंडरुंदा होंति जहण्णम्मि पासादा ॥२८॥
७५। १००। ५०।
पासादावारेसुं बारस चावाणि होंति उच्छेहो।
पत्तेक्कं छण्णाहं अवगाढं तं पि चत्तारि ॥२९॥
१२। ६। ४।
पणुवीसं दोण्णि सया उच्छेहो होदि जिट्ठपासादा।
दीहं तिसयधणूणं पत्तेक्कं सद्धविक्खंभो ॥३०॥
२२५। ३००। १५०।
ताण दुवारुच्छेहो दंडा छत्तीस होदि पत्तेक्कं।
अट्ठारस विक्खंभो बारस णियमेण अवगाढं ॥३१॥
दं ३६। १८। १२।
मज्झिमपासादाणं हुवेदि उदओ दिवड्ढसयदंडा।
दोण्णि सया दीहत्तं पत्तेक्कं एकसयरुंदं ॥३२॥
१५०। २००। १००।
चउवीसं चावाणिं ताण दुवारेसु होदि उच्छेहो।
बारस अट्ठ कमेणं दंडा वित्थारअवगाढा ॥३३॥
२४। १२। ८।
सामण्णचित्तकदलीगब्भलदाणादआसणगिहाउ।
गेहा होंति विचित्ता वेंतरणयरेसु रमयारा ॥३४॥
मेहुणमंडणउलंगवंदणअभिसेयणच्चणाणं पि।
णाणाविहसालाओ वररयणविणिम्मिदा होंति ॥३५॥
करिहरिसुकमोराणं मयरपवालाण गरुडहंसाणं।
सारिच्छाइं तेसुं रम्मेसुं आसणाणि चेट्ठंते ॥३६॥
वररयणविरइदाणि विचित्तसयणाणि मउव्वपासाइं।
रेहंति मंदिरेसुं दीपासठिदोवधाणाणि ॥३७॥

1 B रमणिज्ज।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कणय व्व णिरुवलेहा णिम्मलकंतीसुगंधणिस्सासा ।
वरविविहभूसणयरा रविमंडलसरिसमंडसिरा ॥३८॥
रोगजरापरिहीणा पत्तेक्कं दसधणूणि उत्तुंगा ।
वेंतरदेवा तेसुं सुहेण कीडंति सच्छंदा ॥३९॥
जीमंदर(?)जुत्ताइं विचित्तविण्णासभवणपुण्णाइं ।
सददं अकिट्टिमाइं वेंतरणयराणि रेहंति ॥४०॥
विजयंतवेजयंतं[1] जयंतअपराजयंतणामेहिं ।
चत्तारिदुवाराइं जंबूदीवे चउदिसासुं ॥४१॥
पुव्वदिसाए विजयं दक्खिणआसाए वइजयंतं हि ।
अवरदिसाए जयंतं अवराजिदमुत्तरासाए ॥४२॥
पदाणं दाराणं पत्तेक्कं अट्ठ जोयणा उदओ ।
उच्छेहसमट्ठ रुंदं होदि पवेसो वि वाससमं ॥४५॥

८ । ४ । ४ ।

वरवज्जकवाडजुदा णाणाविहरयणदामरमणिज्जा ।
णिच्चं रक्खिज्जंते वेंतरदेवेहिं चउदारा ॥४४॥
दारोवरिमपएसे पत्तेक्कं होदि दारपासादा ।
सत्तारहभूमिजुदा णाणावरवत्तवारणया ॥४५॥
दिप्पंतरयणदीवा विचित्तवरसालभंजिअद्धंहा[2] ।
दुब्भंत[3]धयवडाया विविहालोच्चेहिं रमणिज्जा ॥४६॥
अब्भंतरयणसाणुसमंतादो विविहरूवपुढजुत्तो[4] ।
दीवच्छाराहिं भविदा पट्टंसुयपहुदिकयसोहा ॥४७॥
उच्छेहउसपहदीसु दारभवणाण जेत्तिया संखा ।
तप्परिमाणपरूवणउवएसो संपहि पणट्ठो ॥४८॥
सीहासणछत्तत्तयभामंडलचामरादिरमणिज्जा ।
रयणमया जिणपडिमा गोउरदारेसु सोहंति ॥४९॥
तस्सिं दीवे परिही लक्खाणिं तिण्णि सोलससहस्सा ।
जोयणसयाणि दोण्णि य सत्तावीसादिरित्ताणि ॥५०॥

३१६२२७ ।

---

1 B वैजयंतं ; 2 S अट्ठंहा ; 3 उज्झंत (?) ; 4 जुत्ता (?) ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२य) ये चारो विद्यानन्द के 'सूनु' या 'तनय' कहे गये हैं। मालूम नहीं होता है कि उक्त ये विद्वान् विद्यानन्द के आत्मज और शिष्य दोनों थे या केवल शिष्य। शिष्य के लिये भी सूनु, तनय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है अवश्य; फिर भी इन चारो विद्वानों के परिचय में आये हुए खास कर 'सूनु' 'तनय' इन शब्दों को देख कर इन्हें आत्मज और शिष्य दोनों अनुमान करना युक्ति-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। इन चारों का संक्षिप्त उल्लेख आगे कर दिया है। इस 'दशभक्त्यादिशास्त्र' में स्मरण किये गये देवराय*, कृष्णराय, अच्चुतराय, मल्लिराय, रामराय, रंगराय नृसिंह, संगिराय, सदाशिव, पद्माम्बा और भैरवाम्बा आदि ये सभी व्यक्ति विजयनगर-राज-घराने के हैं।

डा० सालेतोर का कहना है कि साल्व मल्लिराय, देवराज, कृष्णराज और संगिराय ये चारो तौळव देशान्तर्गत संगीतपुर अर्थात् हाडुहळ्ळि के साल्व या सालुव-वंश के हैं। संगीतपुर, बेणुपुर एवं गेरुसोप्पे इन तीनों स्थानों में इनकी राजधानियां थीं। पर यह निश्चित-रूप से कहना कठिन है कि अमुक व्यक्ति अमुक स्थान में राज्य करता था। हाँ, संगिराय का लड़का इंदगरस संगीतपुर में ही राज्य करता था। नगरी राज्य का भी गेरुसोप्पे से सम्बन्ध था। देवराज और कृष्णराज से विद्यानन्द का साक्षात् सम्बन्ध था। पद्माम्बा देवराज को बहन तथा कृष्णराज की मां थी। उस समय गेरुसोप्पे एवं संगीतपुर में भी तौळव देशके समान 'अळिय-कट्टु' अर्थात् भगिना के मामा का उत्तराधिकारी होना यह प्रथा जारी थी। इसी से कृष्णराज को मामा देवराज का राज्य मिला था। भैरवाम्बा का विवाह पाण्ड्यराज से हुआ था। डा० सालेतोर विद्यानन्द का अस्तित्व ई० सन् १५०२ से १५३३ मानते हैं। परन्तु मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि विद्यानन्द का स्वर्गवास शक १४६३ ई० सन् १५४१ में हुआ था।

ऊपर अन्यान्य परिचयात्मक एवं प्रशंसापरक पद्यों में ग्रन्थकर्ता के द्वारा स्मरण किये गये देवराय (ई० सन् १४२९—१४५१) से प्रणुत धर्मभूषण, विद्यानन्द के 'सूनुवर्य', व्रतीन्द्र, महादानी, निष्कलङ्क चारित्र के आराधक, कर्णाटक की ही राजसभाओं में नहीं, दिल्ली के सुलतान महमूद† के राजदरबार में भी बौद्धों को हरानेवाले एवं नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ भट्टारक

* राय और राज ये दोनों शब्द समानार्थक हैं, इसीलिये कोई 'राय' लिखता है और कोई 'राज'।

† यह दिल्ली के सुल्तान महमूद या मुहम्मद तुग़लक़ होना चाहिये। मुसलमान बादशाहों में यह बहुत ही विद्वान् और योग्य शासक था। उसे हिन्दुओं की धर्म-मान्यताओं के प्रति भी सम्मान-भाव था। यह इस्लाम और अरस्तू के सिद्धान्तों का अच्छा जानकार था। उसे तत्त्ववेत्ताओं से वाद करने का भी व्यसन था। इसकी तर्कशक्ति देख कर अच्छे अच्छे तार्किक विद्वान् भी आश्चर्यित हो जाते थे। अतः इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं, यदि सिंहकीर्त्ति

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सिंहकीर्त्ति, वादीन्द्र, परमागमकोविद, महातपस्वी, सिकन्दर सुल्तान*-द्वारा सम्मानप्राप्त भट्टारक विशालकीर्ति, अपने ज्ञानबल से विद्यानगर (विजयनगर) के स्वामी विरूपाक्षराय (ई० सन् १४६५—१४७९) की सभा में वादियों को जीतकर विजय-पत्र को प्राप्त करनेवाले, अरगनगर के दण्डनाथ (वायसराय) देवप्प† के दरबार में जैनधर्म के महत्त्व को प्रकट

जी ने सुल्तान मुहम्मद तुगलक़ के दरबार में प्रसिद्धि प्राप्त की हो। दिल्ली के सुयोग्य सुल्तान के द्वारा निमन्त्रित किये गये तत्त्ववेत्ताओं में यह भी एक होंगे और इन्होंने सन् १३२६ एवं १३३७ ई० के मध्य सम्मान प्राप्त किया था यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता। (देखें—'भास्कर' भाग ४, किरण ४, में प्रकाशित डा० सालेतोर का "दिल्ली के सुलतान और कर्नाटक के जैनगुरु" शीर्षक लेख) पर एक बात है कि डा० सालेतोर 'पद्मावती-बस्ति' के शिलालेख-गत पाठ को इस ग्रन्थगत पाठ के समक्ष रख कर इस पर फिर एक बार विचार करने का कष्ट उठायें। क्योंकि सिंहकीर्त्ति के परिचय को व्यक्त करनेवाले इस पद्य में कुछ शब्द ऐसे हैं जिन पर विचार करना अवशिष्ट है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पद्य में 'महम्मद सुरित्राण' शब्द स्पष्ट मिल रहा है जो कि उक्त शिलालेख में डा० साहब के कथनानुसार केवल 'मूद-सुरित्राण' पाया जाता है। साथ ही साथ शिलालेख में जहाँ 'बंगाल्य-देशावृत' पाठ है यहाँ 'गंगाढ्यदेशावृत' है। इसके अतिरिक्त भी दोनों पाठों में और भी अन्तर है। उसका पाठ यों है—"बाभाति अश्वपतेर्हिने ततनयो बंगाल्यदेशावृतश्रीमद्दिल्लीपुरे·····मूदसुरि-त्राणस्य माराकृतेः निर्जित्याशु सभावनम् जिनगुरुर् बौद्धादिवादित्रजं श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्ति मुनि रा·····द्यैक-विदां-गुरुः" (पद्मावती-बस्ति का शिलालेख)

"बाभात्यश्वपतेर्हिनेशतनयो गंगाढ्यदेशावृतः
श्रीमद्दिल्लिपुरे महम्मदसुरित्राणस्य माराकृतेः।
निर्जित्याशु सभावनौ जितगुरु (जिनगुरुर्वौ) बौद्धादिवादित्रजम्
श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्तिमुनिराट् नाऽद्यैकविद्यागुरुः॥" (दशभक्त्यादिशास्त्र)

* यह सिकन्दर दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर सूर होना चाहिये। साथ ही साथ यह भी निश्चित है कि सन् १५५४ में जब सुल्तान सिकन्दर सूर दिल्ली का शासक हुआ, संभव है कि इसी साल में विशालकीर्त्ति जी इसके दरबार में आये हों और सुल्तान ने इनका सत्कार किया हो। सिकन्दर का समय १४६८—१५५४ ई० है। विशेष बात जो जानना चाहें वे देखें—डा० सालेतोरके 'भास्कर' भाग ४, किरण ४ में प्रकाशित "दिल्ली के सुल्तान और कर्नाटक के जैनगुरु"।

† विजयनगर का वायसराय (दण्डनायक) गिरिनाथ का पुत्र देवप्प दण्डनाथ था। यह अरग का शासक था। देवप्प मल्लिकार्जुन या इम्मडि देवराय एवं विजयनगर के दूसरे सम्राट् विरूपाक्ष के राज्यकाल में अरग का शासन करता था। (देखें भास्कर भा० ४, किरण ४)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

करनेवाले एवं तत्रस्थ ब्राह्मणों से पूजित, अच्चुतराय (ई० सन् १५३०—१५४२) तथा मल्लिराय (ई० सन् १४५१—१४६५) से सम्मानित, आगमत्रयसर्वज्ञ, महाकवि, विविधोपन्यासविचक्षण, कार्कळ के पाण्ड्यराज के द्वारा समर्चित तथा विद्यानन्द के पुत्र भट्टारक देवेन्द्रकीर्त्ति, विद्यानन्द स्वामी के सधर्मा, पोम्बुच्च में पार्श्वनाथमन्दिर को बनवा कर बड़े समारोह से प्रतिष्ठा करानेवाले नेमिचन्द्र, विद्वद्वन्द्य, सभी शास्त्रों के ज्ञाता और महावादी, विद्यानन्द के पुत्र विशालकीर्त्ति,* विशालकीर्त्ति के सधर्मा अनेक गुणभूषित अमरकीर्त्ति, शास्त्रधुरन्धर, विद्यानन्द के पुत्र विद्यानन्दमुनीश्वर, बंकापुर में नृप मादन एल्लप के मदोन्मत्त प्रधान गजेन्द्र को अपने तपोबल से शान्त करनेवाले, स्याद्वादमर्मज्ञ एवं राजशिरोमणि देवराय (ई० सन् १४२९—१४५१) से वन्द्य अकलङ्क, इनके सधर्मा तर्कव्याकरणादि शास्त्रों के पारगामी चन्द्रप्रभदेव, सर्वगुणालंकृत जयकीर्त्ति, जनता के लिये कल्पवृक्ष-तुल्य अकलंकतनय विजयकीर्त्ति, अनेक धर्मप्रभावना-सम्बन्धी कार्य करनेवाले, अकलंक के शिष्य विमलकीर्त्ति, महातपस्वी एवं अकलंकपद-प्रिय पाल्यकीर्त्ति, विदुषी समुज्ज्वलगुणसम्पन्ना, चारित्रवती आर्यिका चन्द्रमती, संगीतपुर (हाडुहळ्ळि) में अनन्तनाथ स्वामी का सुरम्य एवं भव्य चैत्यालय को बनवा कर शास्त्रीय विधि से प्रतिष्ठा करनेवाले, अन्यान्य राजाओं से पूजित, देशीयगण के योगिराज एवं चन्द्रप्रभतनुज नेमिचन्द्र, श्रीरंगपट्टण में बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से अलंकृत राजसभा में अपनी धारावाही एवं अजेय वाणी के द्वारा वादि-वृन्द को जीतनेवाले, महातपस्वी, देशीयगण के नायक एवं कवि-शिरोमणि विजयकीर्त्ति, होय्सल-राज्य-संस्थापक तथा इस राज-वंश को व्रत और विद्या प्रदान करनेवाले वर्द्धमान, मालवपति-वन्द्य† आशाधर, काशीपतिनत कमलभद्र, पेनगोंडे के नरसिंहराय से सम्मानित लक्ष्मीसेन, मालवेन्द्र की सभा में बौद्धों को पराजित करनेवाले और पेगुद्वीपादि-वन्द्य मतिसागर‡, साल्वराज-द्वारा पूजित, त्रैविद्यचक्रेश्वर श्रुतकीर्त्ति, मन्त्रवादीश्वर एवं बल्लालराय-सम्मानित चारुकीर्त्ति, राजा जयकेशरी के मदोन्मत्त हाथी को शान्त करनेवाले माधवचन्द्र, काणूर्गण के प्रधान, जाबालिपुर के राजा से सम्मानित रामचन्द्र, चन्द्रगुप्तिपुर के शासक, चन्द्रगुप्त के द्वारा अर्चित× महर्द्धिक मुनिचन्द्र, केरलाधीश-सम्मानित देवकीर्त्ति,

* दिल्ली के बादशाह के दरबार में जाकर शास्त्रार्थ-द्वारा विजय प्राप्त करनेवाले उल्लिखित विशालकीर्त्ति से यह भिन्न हैं या वही हैं, विचारणीय है। क्योंकि वर्द्धमानजी ने कई व्यक्तियों के नाम अनेक बार स्मरण किये हैं।

† यह मालवपति परमारवंश के प्रतापी राजा विन्ध्यवर्म थे।

‡ यह प्रायः वादिराज के गुरु हों।

× पता नहीं लगता कि यह कौन सा चन्द्रगुप्तिपुर है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मालवेन्द्र से सेवित माणिक्यनन्दी, मन्त्रवादिपितामह गण्डविमुक्त, अनेक राजाओं से अर्चित अभयचन्द्र, देवप्पार्य के पुत्र, अभयचन्द्र सूरि के शिष्य एवं विजयनगर के देवराय-सम्मानित नेमिचन्द्र, विजयनगर के देवराय के ख्याति-प्राप्त आस्थान-कवि भेम्मडि भट्ट, नरसिंहनृपति-द्वारा प्रशंसित पण्डितार्य, कल्याणनाथ के पुत्र, साल्व महाराज के आस्थान-विद्वान् अभयचन्द्र सूरि, मल्लिराय के हृदयरूपी कमल को विकसित करनेवाले आदिनाथ, वेणुपुर के भव्यों के द्वारा अर्चित, तौळवाधीश-वन्द्य समन्तभद्र, अनेक गुणालंकृत, साल्व-मल्लिराय के शास्त्र-विद्यागुरु देवरस सूरि, इनके पुत्र अनेक गुणभूषित, साल्वदेवराय के आस्थान-रत्न एवं विद्यानन्द के शिष्य बोम्मरस आदि आचार्य, कवि, विद्वान् तथा विदुषियाँ; देवराय, कृष्णराय, रामराय, कृष्णराय के भाई, रंगराय के पुत्र एवं नृसिंह के नाती सदाशिव, पाण्ड्यराज की महिषी जिनभक्ता भैरवाम्बा, संगिराय की भगिनी पद्माम्बा, माबुनायक के पुत्र और संगीतनगर (हाडुहळ्ळि) में ब्रह्मि श्रेष्ठी के द्वारा निर्मापित जिनालय को ताम्रपत्र से आच्छादित करनेवाले सालुव नायक, जिन-मन्दिर-निर्माता कामण्ण और देवरस, महान् वीर एवं गुणगणालंकृत होन्नय नायक, सम्यक्त्वचूड़ामणि, सालुव कृष्णदेव राय से सम्पत्ति को पानेवाले तथा नीति-निपुण हैवण नायक, विद्वानों के लिये कल्पतरु-तुल्य और कृष्णदेवराय के दक्षिण हस्त तिम्म नायक, बेलगावे के शासक, महाप्रभु लुम्मण आदि राजा, महाराज, सामन्त एवं राज-महिषियां; विद्यानन्द के निकट दर्शनशास्त्र को अध्ययन करनेवाले, संगीतपुर के सालुवेन्द्र भूपाल के आस्थान-भूषण, वैयाकरण और महावादी मंत्री चेतरस, प्रधानतिलक, देवराय के दुर्गपति से सम्मानित सुकवि तथा श्रुत-कीर्त्ति के शिष्य मंत्री जैतरस, सौजन्यरत्नाकर, मन्त्रितिलक नागरस, विरुप्प शासक के द्वारा रक्षित, मंत्री देवरस, मल्लिकार्जुन राय के महामन्त्री मल्लप्प नायक, सत्यवादी, सालुव मल्लिराय के मन्त्रिप्रवर एवं वीर नृसिंहराय के द्वारा प्राप्त भाग्यवैभव सङ्गरस, चेन्नराय-पट्टण-सम्बन्धी राज्यलक्ष्मी के सम्वर्द्धक तथा मन्त्रिश्रेष्ठ नेमिचन्द्र, अमचवादिपत्तन (?) मुकुन्द, महान् वीर, अमात्यश्रेष्ठ गुम्मय, राजसभाओं में सम्मानित, बोम्मरस के लघुभ्राता, सोमभूपाल के मंत्रितिलक देवरस, आयुर्वेद-विशारद, वीरपृथ्वीश-सचिव धरणि पण्डित, मन्त्रिशेखर पद्मण्ण श्रेष्ठी, रामराज के अमात्य सण्णमरि नायक, देवि श्रेष्ठी के पुत्र, चेन्ना देवी के भक्त एवं महापराक्रमी, मन्त्रीश तिम्मि श्रेष्ठी, कीर्त्तिशाली, लोकविख्यात एवं धरणीश-प्रदत्त सौभाग्य दण्डनाथ बैचप्प, करणिक-तिलक आदिनाथ आदि मन्त्री, महामन्त्री, दण्डनायक, करणिक; विजयनगर एवं तौळवशासकों के द्वारा सम्मानित, वीरसेन और मुनि विद्यानन्द के चरणसेवक, विद्वत्सेव्य एवं विद्वानों के आश्रयदाता, चतुरंग-दत्त, साहित्य-कोविद एवं टकसाला के अध्यक्ष बोम्मि श्रेष्ठी, देवराय की सभा में श्रेष्ठि-पद को सुशोभित

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

करनेवाले, विख्यात दानी और धर्मभूषण के शिष्य सङ्कप्प, विजयकीर्त्ति के पादाराधक, कुबेरसदृश अतुल ऐश्वर्यशाली तथा अनेक सुपात्रों के पोषक पायप्प श्रेष्ठी, नेमिचन्द्र को व्रतगुरु एवं विद्यानन्द को शिक्षागुरु माननेवाले नागप्प श्रेष्ठी और इनके पिता तम्मण श्रेष्ठी, आयुर्वेद-मर्मज्ञ, देवेन्द्र के अनुज, नंजराय नृप से अतुल ऐश्वर्य को पानेवाले, पण्डित देवरस के पुत्र एवं गोविन्दराज-प्रशंसित विजयप्प, चेन्न श्रेष्ठी की दौहित्री, नेमिनाथ चैत्यालय के सामने लौहमानस्तम्भ बनवानेवाली देवरसी, वणिक्प्रवर, महादानी, दुग्गूरु में जिनमन्दिर बनवाने वाले बोम्मण श्रेष्ठी, पायि श्रेष्ठी के पुत्र वेश्यातटाक (?) एवं पोम्बुच्च में पंचबस्ति निर्माण करानेवाले पायण्ण, सालुव मल्लिराय के शास्त्र-विद्यागुरु, साहित्य-विद्याधर देवरस तथा विजया के पुत्र, सालुव देवराय के आस्थान-कवि और विद्यानन्दि-शिष्य बोम्मरस आदि विख्यात श्रेष्ठी एवं श्रेष्ठि-महिलायें विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

(३६) ग्रन्थ नं० २५५/ख

सारसंग्रह

कर्त्ता—विजयण्ण उपाध्याय

विषय—वैद्यक
भाषा—संस्कृत

लम्बाई १२ इञ्च चौड़ाई ६।।। इञ्च पत्रसंख्या २३८

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमच्चातुर्निकायामरखचरवरं नृत्यसंगीतकीर्तिम्
-व्याप्त.....शालं सुरपटहादिसत्प्रातीहार्यम्
नत्वा श्रीवीरनाथं भुवि सकलजनारोग्यसिद्ध्यै समस्तै-
रायुर्वेदोक्तसारैरिहममल(?) महासंग्रहं संलिखामि ॥

× × ×

मध्य भाग—

अथातः संप्रवक्ष्यामि तिथीशबलमुत्तमम् ।
प्रथमायां तिथौ व्याधिरुत्पन्नश्चेत्तदाहतः ॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अग्निस्तु देवता तत्र तण्डुलेन बलिं हरेत् ।
आग्नेय्यां दिशि मध्याह्ने रोगनाशो भविष्यति ॥
द्वितीयायां तिथौ व्याधिर्वर्तते दशरात्रकः ।
गन्धमाल्यबलिं दद्यादेव वैद्यस्तु देवते (?) ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

प्रमेहविंशतिप्रदरामयघ्नं पित्तान्तकं कामिलपाण्डुनाशम् ।
श्वेध्यानुकूले (?) तदसेव्यपथ्यं श्रीपूज्यपादप्रभुभाषितञ्च ॥

यह ग्रन्थ राजकीय प्राच्य पुस्तकागार मैसूर से लिपिबद्ध कराया गया है। वहाँ की मुद्रित ग्रन्थ तालिका में ग्रन्थ का नाम 'अकलंक-संहिता' और कर्त्ता का नाम अकलंक भट्ट लिखा मिलता है। अतः लेखक ने भी भवन की प्रति में अकलंक-संहिता एवं अकलंक भट्ट ही क्रमशः लिख छोड़ा है। पर इसका कोई आधार नज़र नहीं आता। "नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने। कल्याणकारको ग्रन्थः पूज्यपादेन भाषितः॥ सर्व लोकोपकारार्थं कथ्यते सारसंग्रहः॥" "श्रीमद्वाग्भटसुश्रुतादिविमलश्रीवैद्यशास्त्रार्णवे भास्वत्·····सुसारसंग्रहमहावामान्विते संग्रहे। मंत्रज्ञैरुपलाल्य सद्विजयणोपाध्याय सन्निर्मिते ग्रन्थेऽस्मिन्मधुपाकसारनिचये पूर्णो भवेन्मङ्गलम्॥" बल्कि ग्रन्थगत इन पद्यों से ज्ञात होता है कि इसका नाम सारसंग्रह है। आयुर्वेदाचार्य श्रीयुत पं० विमलकुमार जैन का भी कहना है कि बुन्देलखण्ड में भी इसकी एक-दो प्रतियाँ मुझे दृष्टिगोचर हुई हैं और उन प्रतियों में इसका नाम सारसंग्रह ही मिलता है। बल्कि उन्होंने इस ग्रन्थ को आद्योपान्त देखकर बतलाया है कि इसमें पृष्ठ १ से ५ तक समन्तभद्र के रसप्रकरण सम्बन्धी कुछ पद्य, पृष्ठ ६ से ३२ तक पूज्यपादोक्त रस, चूर्ण, गुटिकादि कुछ उपयोगी प्रयोग एवं पृष्ठ ३३ से श्रीगोम्मटदेव के मेरुदण्डतन्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ की नाड़ी-परीक्षा एवं ज्वर-निदानादि कुछ भाग हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रकरण में सुश्रुत, वाग्भट, हरीतमुनि एवं रुद्रदेव आदि वैद्याचार्यों के भी मत मिलते हैं। पृष्ठ ३ के ऊपर उद्धृत प्रथम श्लोक का पूर्वार्द्ध आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-सम्बन्धी मंगलाचरण के पद्य का ही पूर्वार्द्ध है। केवल उत्तरार्ध इस ग्रन्थ के संग्रहकर्त्ता विजयणण का है।

यह भवन की प्रस्तुत प्रति बड़ी ही अशुद्ध है। इस की शुद्ध प्रति खोज कर प्रकाश में लाने की ज़रूरत है। साथ ही साथ समन्तभद्र, पूज्यपाद एवं गोम्मटदेव के मौलिक वैद्यक ग्रन्थों का अन्वेषण करने की परमावश्यकता है। बल्कि कम से कम यत्र-तत्र प्राप्त होनेवाले इन आचार्यत्रयी के पद्यों को संगृहीत कर अनुवाद के साथ शुद्ध

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एवं सुन्दर रूप में प्रकाशित करने की ओर जैन वैद्यों का ध्यान अवश्य आकृष्ट होना चाहिये। भवन की प्रति इस समय मेरे सामने नहीं है। भवन की यह प्रति भवन की ओर से 'भास्कर' में क्रमशः प्रकाशित 'वैद्यसार' में इस ग्रन्थगत पूज्यपाद के प्रयोगों को संकलित कर देने के लिये उक्त वैद्यसार-संग्रह के सम्पादक के पास भेज दी गयी है। इसी से इस पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सका।

---

(४०) ग्रन्थ नं० २५६/ख

हरिवंशपुराण

कर्त्ता—श्रुतकीर्ति

विषय—पुराण

भाषा—अपभ्रंश

लम्बाई १३। इञ्च *चौड़ाई ८। इञ्च* *पत्रसंख्या ३१५*

प्रारम्भिक भाग—

ससिइणवोमसइं ते हरिवंसइं पावतिमिरहा विमलयरि गुणगणजसभूसिय तुरयअइ सिया सुव्वयणेमिय हलिय हरि ॥छ॥ सुरवइतिरीडरयणंकिरणंबुयपवाहसित्तणहचलणं पणविवि तं परमजिणं हरिवंसकयत्तणं वुच्छे। हरिवंसु पयोरुहु अइरवणु इह भरह-खित्तसरवरउवणु, तह णालुसुकुलणिवणियरत्तुंगु तं ठियउ मणोहरु भाइ चंगु, तहकणिय-सउणयणिवदसार कुसुमसरपमुहकेसरिकुमार, पंडवजायवभोजयणरेसा ते पत्तमणोहरणिरव सेसा, जरसिद्ध दुवणु तहु णिसिसमाणु कोवग्गिहेमु जंमरइमाणु, तं णेमिहलीहरि-किरउजोय, सोविलयपत्तु इहमव्वलोय, परसंताविरु पुणु अवरुजाइ धरयट्ठियरावणयमुहराइ, हरिवंसु कमलु वियसिउ विसेसा तहु कित्तिसुरहिअलिमहिणरेसा, दुक्किय सोहइ सेविज्जमाणु णिसि सामिउ जं उडगणसमाणु, तहु कित्तण महु उल्लसइ चित्तु संकमिदायारहुरुछविस्तु, पारंभमि जइ हरिवंसु अज्ज णिद्धण कह हुंति अभिट्ठकज्ज, जइ महु पसियंतु तिलोयणाह रिसहाइवीरु असरणसणाह ॥ घत्ता ॥ ठियणंतचउट्ठहु महुमइ भट्ठहु देहु सुमइ पहु णित्थरमि सरसइं सुपसायइं मणि अणुरायइं जिम हरिवंसु पवित्थरमि ॥

× × × ×

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ १०२ पंक्ति ५)—

जिणवर चउवीसइं पणमिय सीसइं चउदिसु णियजसु वित्थरए जिम कंसु उवरणाउं णिउ अमणुएणउं उग्गसेणवंधणुकरए ॥ रायधम्मबहुसच्छहु लक्खणु पयडइ तह वसुएउ वियक्खणु असिवरधणुहवाणगुणभेयइं मुग्गलछुरिकाचक्कअणेयइं, हयगयरहिवर जं वाहिज्जहि वागराग कसअंकुसदिजहिं, अवरवयरिरणजिप्पणहेयइं पुंछिउ उवएसइ इयभेयइं, जे गित्थह खंड कम्म मणुएणइं तं उवएसु करइ अणुएइं, पडिम एयदहं सावयधम्मइं दंसणपमुहउ देसइ रम्मइं, धम्मझाणइ य कालु गमंतउ पुरपरियण पिय मणु रंजंतउ पत्थंतरि तह कंसु परायउ चलण णवेइ चित्तअणुरायउ, सामिय तव भिच्चत्तणु ईहमि आउहु विज्ज सिसत्तु समीहमि, ता वसुएव उत्त अछिज्जइ दिणदिणु विज्जाभासु करिज्जइ, धणुगुणवाणविहाण अणेयइं ते वसुएव कहिय वहुभेयइं असिवरमुग्गलकुंतविहाणइं मालजुझ पाइकविणाणइं ॥ घत्ता ॥

× × × ×

अन्तिम भाग —

जह कमेण सुयणाणि उक्खिणइं अगअंगदेसइं घरअणइं पंचमकालचलणपाढमिल्लइं तह उवण आयरियमहल्लइं कुंदकुंदगणिणाअणुकम्मइं जायइं मुणिगणविविहसहम्मइं गणवालतवागे सरिगच्छइं णंदिसंघमणहरमइसुच्छइं पहाचंदगणिणा सुदपुराणइं पोमणंदि तह पट्टउवरणइं पुणु सुभचंददेवकमजायइं गणि जिणचंद तहयविक्खायइं विज्जाणंदि कमेण उवरणइं सीलवंतबहुगुणसंपुराणइं पोमणंदिसिसकमिण ति जायइं जे मंडलायरिय विक्खायइं मालवदेस धम्मसुपयासणु मुणिदेविंदकित्ति मिउभासणु तह सिसु अमियवाणि गुणसारउ तिहवणकित्तिपवोहणसारउ तह सिस्सु सुहकित्ति गुरभत्तउ जहिं हरिवंसपुराणु पउत्तउ मक्करउझिउबुद्धिविहीणउ पुव्वयिरिहिं वयणपयलीणउ अप्पबुद्धिबुहदोसुए लिव्वउ जं असुद्धु तं सुद्धुकरिव्वउ एयहु सयलगंथ सुपमाणहु तेरसद्धसहसइं वुह जाणहु । संवतु विक्कमसे णवरेसहं सहसुपंचसयबावणसेसहं मंडवगडुवर मालवदेसइं साहिगयासु पयाव असेसइं णयरजेरहदजिणहरु चंगउ णेमिणाहजिणाबिंबु अभंगउ गंथुसउणु तत्थ इहु जायहुउ चउविहु संसुणि सुणि अणुरायउ माघकिण्हपंचमिससिवारइं हत्थणाखत्तसमत्तुगुणालइं गंथु सउणु जाउ सुपवित्तउ कम्मरकयणिमित्तजउत्तउ पढहिं सुणहिं जे भावण भावहिं पयडअक्कअराहु णिसुणावहिं तह सम्मत्तरयणावरलाहइं सग्गपवग्गअचलसुह साहहि ॥ घत्ता ॥ हरिवंसपुराणाहु तिजयपहाणाहु भाउ करिवि जेसहहिं सियपुत्तकलत्तइं लाहमहंतइं सग्गपवग्गइं पुणु लहहिं ॥१८॥ दुवई ॥ वीरजिणंदचलणा पणावेपिणु जिणसासण महंतहो दिसउ समाहिसंतिभव्वयणाहं धम्मणुरायरत्तहो ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V SEPT. 1939 No. II.

Edited by
Dr. B. A. SALETORE, M. A., Ph. D.
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA,

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:
INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8 SINGLE COPY Rs. 1-4.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS.

	PAGES.
1. JAINA LITERATURE IN TAMIL By Prof. A. Chakravarti M.A., I.E.S.	35—42
2. SOME ICONOGRAPHIC TERMS FROM JAINA INSCRIPTIONS By Mr. V. S. Agarwala, M.A.	43—47
3. A JAINA GANESA OF BRASS By H. D. Sankalia, M.A., LL.B., Ph. D. (Lond.)	49—52
4. ASOKA AND JAINISM By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S. ...	53—60
5. THE JAINA CHRONOLOGY. By Kamta Prasad Jain M.R.A.S.	61—64
6. SELECT CONTENTS OF ORIENTAL JOURNALS	65
7. JAINA BIBLIOGRAPHY	66

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V. No. II | ARRAH (INDIA) | Sep. 1939.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.

Continued from Vol. V, No. I, page 8.

The Chera prince is complimented by his Brāhmaṇa friend Māḍalan as one who introduced the purer form of 'Pooppali' in temple worship. Incidentally we may mention another interesting fact. There are two terms in early Tamil literature 'Andaṇan' and 'Pārppān' each with a story behind. It is generally assumed that these two are synonyms. In several places they are probably used as synonyms. When in the same work these two terms are used in a slightly different connotations, they must be taken as different. In this epic of anklet the term 'Andaṇan' is interpreted by the commentator to mean 'Śrāvaka' the householder among the Jainas. This is very interesting piece of information. These two terms again occur in the famous Kuraḷ where the term 'Pārppān' is interpreted to mean one who makes Veda Adhyayana; where the term 'Andaṇan' is defined in a different manner as "as one who is all love and mercy to all the living creatures." Evidently the term 'Andaṇan' was conventionally used by early Tamil authors to describe the followers of Ahiṁsā doctrine irrespective of birth, while the term 'Pārppān' was reserved by them to designate the social

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

caste af the Brāhmaṇas. This suggestion is worth investigating by scholars interested in the social reconstruction of the early Tamils.

Jivaka Cintāmaṇi.—This work, the greatest of the five Mahākāvyas, is undoubtedly 'the greatest existing Tamil literary monument.' In grandeur of conception, in elegance of literary diction and in beauty of description of nature it remains unrivalled in Tamil literature. For the later Tamil authors it has been not only a model to follow but an ideal to aspire to. The story that is told of Kamban, the author of the great Tamil Rāmāyaṇa, that when he introduced his Rāmāyaṇa before the academy of scholars, when some of the scholars remarked that they discerned traces of Cintāmaṇi there, Kamban, characteristic of intellectual courage and honesty, acknowledged his debt with the following words:—

"Yes, I have sipped a spoonful of the nectar from Cintāmaṇi," This indicates with what veneration the classic was held by the Tamil scholars. 'This great romantic epic which is at once the Iliad and the Odyssey of the Tamil language' is said to have been composed in the early youth of the poet named Tiruttakkadēva. Nothing is known about the author except his name and that he was born in Mylapore, a suburb of Madras, where the author of Kuraḷ also lived. The youthful poet together with his master migrated to Madura the great capital of the Pāṇḍyan kingdom and the centre of religious activities. With the permission of the teacher the young ascetic poet got introduced to the members of the Tamil Academy or Saṅgam at Madura. While in social conversation with some of the fellow members of the academy he was reproached by them for the incapacity of producing erotic work in Tamil language. To this he replied that few Jainas cared to write poetry in Śṛṅgāra Rasa. They could very well do it as well as the others, but the fact that they did not indulge in such literary compositions was merely the result of their dislike of such sensual subjects and not due to literary incapacity. But when his friends taunted whether he could produce one, he accepted the challenge. Returning to his Āśrama he reported the matter to his master. While himself and his master were seated together there ran a jackal in front of them which was pointed out

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

by the master to his disciple who was asked to compose a few verses relating to the jackal. Immediately Tiruttakkadēva, the disciple, composed verses relating to the jackal, hence called Nari viruttam, illustrating the instability of the body, ephemeral nature of the wealth and such other topics. The master was pleased with the extraordinary poetic ability of his disciple and gave him permission to compose a classic describing the life history of Jīvaka. It contained all the various aspects of love and beauty. To mark his consent the master composed an invocatory verse to be used by the disciple as his first verse of his would-be work. Then his disciple Tiruttakkaddēva started composing another verse in adoration of Siddha which was accepted by his Guru as much more beautiful than his own and instructed him to keep this as his first verse while his own was assigned a second place. Thus the verses containing Siddhanamaskāra starting with the words 'Moovāmudalā' is the first verse in Jīvaka Cintāmaṇi while 'Arhan Namaskāra' composed by the Guru beginning with the words 'Śempoṇvaraimēl' is assigned the second place in the work. Thus as the result of the challenge from his friendly poet of Madura Saṅgam, the Cintāmaṇi was composed by Tiruttakkadeva to prove that a Jaina author also could produce a work containing Śṛṅgāra Rasa. It was admitted on all sides that he had succeeded wonderfully well. When the work was produced before the academy, the tradition says, that the author was asked by his friends how he, from his childhood pledged to perfect purity and celibacy, could compose a poem exhibiting such unequalled familiarity with sensual pleasures. In order to clear up this doubt it is said he took up a red-hot ball of iron with these words "Let this burn me, if I am not pure"; and it is said he came out of the ordeal unscathed, and his friends had apologised to him for casting doubt on his purity of conduct.

Unlike the previous work Śilappadikāram which is supposed to deal with the historical events which took place during the life-time of the author, this classic deals with the Purāṇic story of Jīvaka. The story of Jīvaka is found in Sanskrit literature in plenty. The continuation work of Mahāpurāṇam by Jinasena composed by his disciple Guṇabhadra

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

contains the story of Jīvaka in a chapter of Mahāpurāṇa. The story is again found in Śrī Purāṇam which is a prose in Maṇipravāḷa style, probably a rendering of this Mahāpurāṇam. In Kṣatracuḍāmaṇi, in Gadyacintāmaṇi and Jīvandhara Campū we have the same story worked out. Whether the author of the Tamil work had any of these Sanskrit works as the basis for his composition we cannot assert with any definiteness.

Of all these Sanskrit works, Mahāpurāṇa is certainly the oldest and we have definite information that it belongs to the 8th century A.D, since it was composed by Jinasena the spiritual teacher of Amoghavarṣa of the Rāṣṭrakūṭa dynasty. But Jinasena himself speaks of several previous works on which he bases his own composition. Anyhow it is generally agreed by scholars that this Tamil classic Jīvakacintāmaṇi is probably later than the 8th century A.D. We may accept this verdict for the present. The work is divided into 30 Ilambakas or chapters, the first beginning with the birth and education of the hero and the last ending with his Nirvāṇa.

1. Nāmagal Ilambagam—The story begins with the description of the country Hemāṅgada in Bharata Khaṇḍa. Rājamāpuram is the capital of Hemāṅgada. The ruler was Sachchandan of the Kuru dynasty. This Sachchandan married his maternal uncle's Śrīdattan's daughter named Vijayā. This Śrīdattan was ruling over the country of Videha. Since the king Sachchandan was so much in love with his wife who was extremely beautiful, he spent most of his time in her apartment without attending to his state affairs. He delegated to one of his ministers Kaṭṭiyaṅgāran the royal privileges to be exercised. This Kaṭṭiyaṅgāran, when once he tasted the power and privilege of royalty, desired to usurp the the same. The king, ignorant of such a Machievallian policy of his minister, to whom he foolishly entrusted the state affairs, discovered the mistake a little too late. In the meanwhile, the Queen had three dreams of rather an unpleasant nature. When she wanted the interpretation from the king, he somehow consoled her not to worry about the dreams. Anticipating troubles from his

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ungrateful minister, it is said that he had constructed for him a sort of aerial vehicle like the modern aeroplane in the form of a peacock. This peacock machine was secretly constructed within the palace in order to carry two persons in the air, and he instructed his Queen to manipulate this machine. When the queen was in the state of advanced pregnancy, the ungrateful Kaṭṭiyaṅgāran wanted to realise his wish to usurp the kingdom and thus besieged the palace. Since the peacock machine was constructed to carry the weight of two persons alone and since the queen was in advanced state of pregnancy, the king thought it advisable to place the machine at her disposal and himself stayed behind. When the machine started up with the queen on it, the king with the drawn sword in his hand came out to meet the usurper. In the melee of the fight the king lost his life and the wicked Kaṭṭiyaṅgāran proclaimed himself the king of Rājamāpuram. The queen, who by that time reached the outskirts of the city, heard this royal proclamation resulting from the death of her royal husband and lost control of the machine which descended and landed on the cremation ground in the outskirts of this city. In the darkness of night she gave birth to a son in those pitiable surroundings. The queen had nobody to help her and the child was crying helpless in the pitch-dark night on the cremation ground. It is said that one of the Devatās taking pity on the queen, assumed the form of one of her attendants in the palace and did service to her. Just then one of the merchants of that city carrying his dead child to be buried came there. There he met the beautiful child Jīvaka which was left alone by his mother at the advice of the Devatā. The merchant by name Kandukkaḍan was very much pleased at the sight of the royal baby which he recognised as such from the ring in the child's finger and took the live baby, the royal child, back to his house and gave it back to his wife, saying that her child was not dead. His wife gladly accepted this gift from her husband and brought him up thinking it her own. This child was Jīvaka, the hero of our story.

The queen Vijayā accompanied by the Devatā went to Daṇḍakāraṇya where she assumed the form of a female ascetic and stayed in a Tāpasa Āśrama. Jīvaka was brought up in the merchant's

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

house with a number of his cousins. As a youth he was educated by one Accaṇandi Ācārya and also learnt archery and other arts requisite for a prince. The Guru who was attracted by the ability of his student one day narrated to him the tragic story of his royal family and took a promise from the youthful prince that he should not rush to revenge and recover his state till the expiry of one complete year. After getting this promise from the youthful disciple the Guru blessed the prince that he would recover his kingdom after that period and discovered to him his own identity Afterwards the Guru left him and went his own way to perform Tapas and attain Nirvāṇa after worshipping at the feet of the 24th Tīrthaṅkara Mahāvīra. Thus ends the first chapter devoted to the education of the prince Jīvaka, hence called Nāmagal Ilambagan, Nāmagal meaning Sarasvatī the Goddess of tongue or speech.

2. Govindaiyār Ilambagam—While the prince was spending his time with his chetty cousins in the family of Kandukkkaḍan, the hill tribes from the borders carried away the cattle belonging to the king. The shepherds in charge of the cows, being unable to prevent this, ran to the king for help. The king immediately ordered his 100 sons to go and fight the hunters and recover the cattle. But they were all defeated by the hill tribes. The king did not know what to do next. But the chief of the shepherds had it published in the city that he would give away in marriage his daughter Govindā to any one who could successfully recover and bring back the king's cows. Jīvaka heard this proclamation, went in pursuit of these 'Vēḍars', and recovered all the cows. Since it would not be proper for a Kṣatriya to marry a shepherd maid, he with the consent of the Nandakōn the shepherd chief had Govindā married to his friend and associate Padumuhan. Thus ends the second chapter dealing with the marriage of Govindā.

3. Gāndharvadattāiyār Ilambagam—Gāndharvadattā was the daughter of a Vidyādhara king named Kaluṣavega. Learning from an astrologer that his daughter would marry someone in Rājamahāpura, he wanted to send his daughter to that city. When he was waiting for an opportunity for this, a merchant from that city Rājamahāpura by name Śrīdatta was returning home with ship-loads of gold as a

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

result of his sea-borne trade. Just like the magic ship-wreck effected by Prospero in Shakespeare's Tempest, this Vidyādhara king did create a magic ship-wreck and managed to bring the merchant Śrīdatta to his court. There he was intimated why he was brought to the Vidyādhara capital; and he was instructed to take with him the princess Gandarvadattā to be given in marriage to anybody who would defeat her in a Vīṇā contest. Returning to his capital with this Vidyādhara princess, Śrīdatta proclaimed to the citizens the conditions of Viṇā Svayaṁvara and offered the Vidyādhara princess to one who would succeed in this contest. This contest was arranged with the permission of Kaṭṭiyaṅgāran the then ruling king. Members belonging to the first three Varṇas were invited for the contest. Every one got defeated by this princess Gandharvadattā. Thus elapsed six days. On the seventh day the prince Jīvaka, who was taken by the citizens for merely a merchant's son, wanted to try his chance in this music contest. When Jīvaka exhibited his musical skill in this contest, the Vidyādhara princess acknowledged him to be victorious and accepted him as her husband. Several princes who were assembled there, out of jealousy, wanted to fight Jīvaka but all these were defeated and finally Jīvaka took Gāndharvadattā home where he celebrated the regular formal marriage. Thus ends the third chapter of the marriage of Gāndharvadattā.

4. Guṇamālaiyār Ilambagam—On another day during Vasanta festival the youth of the city went to the adjoining Park for play and enjoyment. Among these were two young ladies Suramañjari and Guṇamālā. Between them there arose a discussion as to the quality of the fragrant powder used for the purpose of bathing. Each claimed that her powder was superior. The matter was referred to the wise youth Jīvaka, who gave a verdict in favour of Guṇamālā. Hearing the decision Suramañjari was sorrow-struck and decided to shut herself up in Kaṇyāmāḍa with a vow that she would never see male's face, till this very Jīvaka would come begging for her hand in marriage. While Suramañjari desisted from taking part in the Vasanta festival Guṇamālā encouraged by the verdict in her favour went out to enjoy the festival. Jīvaka himself on his way observed a dog beaten to death by some Brāhmaṇas whose food was

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

touched by this poor dog. When he saw the dying dog, he tried to help the poor creature and whispered to him the Pañcanamaskāra with the hope that it would help the creature to have a better future. Accordingly the animal was born in Devaloka as a Deva called Sudañjaṇa. This Sudañjaṇa Deva immediately appeared before Jīvaka to express his sense of gratitude and was willing to serve him. But Jīvaka sent him back with the instruction that he would send for him whenever he was in need. While he thus dismissed the Deva, he witnessed a terrible scene. The king's elephant escaped from its place and immediately ran towards the Udyāna in front of the people returning home after the festival. Just then he saw Guṇamālā with her attendants returning home. They were all frightened at the sight of the mad elephant. Jīvaka rushed to their rescue, subdued the king's elephant and made it return home quietly; and thus made the way clear for Guṇamālā and her friends. While Guṇamālā saw the beautiful prince, she immediately fell in love with him. This was reported to her parents who arranged for the marriage of Guṇamāla with Jīvaka, which was accordingly celebrated. But the king Kaṭṭiyaṅgāran came to know of the chastisement of his royal elephant and sent his sons and brother-in-law Madanan to bring this Chetty boy Jīvaka. They with a number of soldiers came and surrounded Kandukkaḍan's house. Though Jīvaka wanted to fight against them, he remembered his promise to his Guru to keep quiet for one full year and therefore was not in a position to defend himself. Thus in difficulty he remembered his friend Sudañjaṇa Deva who immediately brought about a cyclone and rain thus created confusion among his enemie. In this confusion Jīvaka was lifted and carried away by his friend Sudañjaṇa Deva to his own place. The king's officers, in their confusion, were not able to find out Jīvaka; they killed some one else; and reported the matter to the king that they could not bring Jīvaka alive and therefore they had to kill him in the confusion created by the cyclone. The king was very much pleased with this result and rewarded them all amply.

Contd.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Some Iconographic Terms from Jaina Inscriptions.

BY

Mr. V. S. Agarwala, M.A.

The late B. Puran Chand Nahar, famous Jaina scholar of Calcutta, published in three volumes about 2,500 Jaina inscriptions which he had after great patient labour compiled from numerous temples and images. While going through the volumes I noticed some technical words used in the inscriptions themselves, and which considering their importance for the sake of Jaina iconographic terminology I collected, and am now presenting below. I have supplemented the same from the Kushana Brahmi Inscriptions found from the Kankali Tila, Mathura, so that the inscriptions all together present a range of about two thousand years. Where reference to Kankali Tila is not specifically mentioned, the terms are mostly those from the medieval period.

An image is generally called मूर्ति ; more often it is also styled as बिम्ब or जिन बिम्ब, if the image represents a Tirthamkara. A temple is rightly named जिनालय. The cella of the temple is called गर्भगृह.

Images of Supārsva and Pārśvanatha had a hood of serpent-heads, and the name for such images was सफण मूर्ति. From the Kankali Tila we have found several four-fold steles, representing four standing Jinas. One of these images is always a सफण मूर्ति, and I believe was intended to represent the Tirthankara Supārśva, in whose memory a stupa was built at the Kankali Tila site, as stated in the Mathura Kalpa of the *Vividha-tirtha-kalpa.*

The four-fold Mathura images are technically named in the Brahmi inscriptions as प्रतिमा सर्वतोभद्रिका [*Ep. Ind.*, Vol. I, Ins. 2] dedicated to the Lord (भगवतो), or अरहन्त प्रतिमा सर्वतोभद्रिका (Ep. Ind., Vol. II, Ins. XVI), or in its Prakritised form as शवदोभद्रिक [E.I., II, Ins. no. XXXVII]. In the medieval period this name

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

appears to have been supplanted by another word, *viz.*, चतुर्बिम्ब, used in a Kankali Tila epigraph of the Vikrama year 1080. [E.I., Vol. II, Ins. XLI]. The modern name चौमुखी is almost a derivation from चतुर्बिम्ब.

Among the medieval Jaina images there is a class in which around the figure of a central Jina, twenty-three other Jinas are also carved, so that the complete slab honours the memory of all the 24 Tirthankaras. Such images are now known as चौबीसी मूर्ति. In the medieval period inscriptions they are called चतुर्विंशतिपट्ट [Nahar Vols. Ins. no. 2407]. The चतुर्विंशति पट्ट derived its specific name from the name of the central Jina figure. For example we find mention of the following Jina slabs :—

1. आदिनाथ चतुर्विंशतिका [Ins. 2457].
2. शान्तिनाथ चतुर्विंशति पट्ट [Ins. 2553].
3. विमलनाथ चतुर्विंशति पट्ट [Ins. 2554].
4. श्री कुन्थुनाथ सपरिकर चतुर्विंशति पट्टः [Ins. 1695]
5. श्री सुविधिनाथ चतुर्विंशति पट्ट [Ins. 1329].
6. श्री संभवादितीर्थकृच्चतुर्विंशति पट्टः [Ins. 1733].

In the last inscription the name of the Central Jina is given as Sambhava, but the other twenty-three are also implied in the phrase संभवादि, *i.e.*, Sambhava and others We are indebted to Inscription No. 1731 for the technical name of the principal Jina represented on the चतुर्विंशति slabs ; he was designated as मूलनायक. The particular slab is inscribed as .....श्री शान्तिनाथ मूलनायक—चतुर्विंशति पट्ट :—

The word for a standing Jina image is कायोत्सर्ग मूर्ति. In Ins. 2146 we read कायोत्सर्गस्थिता श्री सुपार्श्व प्रतिमा which description is justified by its सफण feature, In Ins. 2402 we read on a colossal standing image of Bāhubali : श्री बाहूबलिमूर्तिः कायोत्सर्गस्था कोरिता ।

In connection with the carving of the 24 Jina images on one slab, it may be noted that sometimes the mothers of the 24 Jinas also were represented on a single slab. One such example depeincting 24 female figures we find in Ins. no. 2432 describing the same as श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर मातृपट्टिका,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

In fact the fondness of the Jainas for carving religious slabs or tablets was responsible for a variety of them having come into existence. In the earliest inscriptions of about the 1st century B. C. from the Kankali Tila we read of आयागपट s 'Ep. Ind. Vol. II, Ins. V,XXX,XXXII] Dr. Bühler rendered it as a 'Tablet of Homage' and connected it with the Sanskrit from आर्यागपट्ट. We have several perfect examples of Ayagapatas from Kankali Tila, now preserved in the LKo museum, and it can be asserted that for perfect grouping, symmetry of composition and for the wealth of contents, there is nothing else in Mathura art that can compare with the Jaina Āyāgapaṭas from the Kankali Tila. They were established in honour of a Jina or one of the sacred symbols which occupied the centre of the picture, and symbolically they could be said to represent the Jaina conception of Time and Space as making up the Cosmos and the Spirit that presides over it. Āyāgapaṭṭa no. 82 in the Mathura Museum depicts the stupa with gateways and railing that actually stood at the site of Kankali Tila.

The custom of establishing Ayagapatta of the Kankali Tila type seems to have been discontinued after the Kushana period. In the medieval period records we come across other kinds of *paṭṭas* :—

1. पट्टावली पट्टक [Ins. no. 2574]. This is one of the most important inscriptions published in his volumes by Sri P. C. Nahar. It gives the genealogy of the Jaina pontiffs from Mahavira to Devardhigani, covering a period of 980 years. This slab is illustrated in the beginning of Vol. III of Jaina Inscriptions by Nahar.

2. तपपट्टिका [Ins. No. 2144]. Illustrated on p. 22 of Vol. III by P. C. Nahar. It gives the dates of the Five Great Events (पंचकल्याणक) of the 24 Jinas, but its particular name is derived from the fact that it gives charts of the six kinds of *tapas* and also illus-illustrates graphically the two kinds of penances known as यवमध्य and वज्रमध्य. The six kinds of penances given there are the following:—

(*a*) महाभद्र तप, lasting for 196 days, punctuated by 49 *pāraṇās* or eatings.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(*b*) सर्वतोभद्र तप, 392 days, 49 *pāraṇās.*

(*c*) भद्रतप—75 days, 25 ,,

(*d*) भद्रोत्तर तप—175 days, 25 ,,

(*e*) श्रीधर्म चतुथ तप.

(*f*) श्री कर्म चतुथ तप.

The वज्रमध्य तप is performed in the dark half of the month regulating the morsels according to the waning phases of the moon, and the यवमध्य variety is followed in the bright half as a चान्द्रायण व्रत.

3. कल्याणकपट्ट [Ins. on p. 35 of introduction, to Vol. III, and the illustration also facing it] The Jainas believe that there were five great events in the life of each Tirthankara, *viz.*, चवण (= च्यवन, Descent or Conception), जंम (= जन्म, Birth), दिक्खा (= दीक्षा, Initiation), नाण (= ज्ञान, Enlightenment) and मोरको (=मोक्ष, Passing Away). The slabs which give the dates *viz.* the month and day of these auspicious events were known as पंचकल्याणक पट्ट. In the तपपट्ट given above, the पंचकल्याणक details are also incorporated.

4. समोसरण पट्ट. [Ins. 2409] depicting the समवसरण congregations.

5. पादुकापट्ट depicting foot-prints.

Cognizance or symbols—The distinguishing symbols of the 24 Jinas are well-known. What I wish to emphasize here is the fact that the *lāñchhanas* appeared at a later date in Jaina iconography. Of all the images from Kankali Tila I have not come across a single image with a cognizanee to mark it out as the statue of a particular Tirthamkara. The *lāñchhanas* in fact do not exist, so far as art is concerned, up to the end of the Kushāṇa period. The dedicatory inscriptions only help us in knowing the name of the Jina represented. For example we have from Kankali Tila अरिष्टनेमि E.I., II, Ins. 14), णन्दिआवर्त (E. I. II, Ins. 20), वर्द्धमान (E. I., II, Ins. 23), उसभ (E.I., II, Ins. 28), पार्श्व (E. I. Vol. II, Ins. 29) etc.

A temple in the early Brāhmi inscriptions was called पासाद [E. I., II, Ins. 4] and a gateway or architrave as पासाद तोरन [E. I., II,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Ins. I]. In one inscription the pillar is referred to as सिलथंभ (E. I., I., Ins. II).

The word for a sculptor is सिलावटा [Ins. 2501 ; also 2503, 2505 etc., Nahar].

Its variation is शिलावट [Ins. 2504]. In fact this title for a sculptor is still in vogue in Rajputana and in some parts of North India where it has not been replaced by the Persian *sang-tarash*. In one inscription the engraver is referred to as सूत्रधार, [Ins. 2512]. It may be added that in a Brāhmī inscription of the Kushāṇa period engraved on the pedestal of a seated Bodhisattva statue of Mathura red sandstone, discovered at Śrāvastī, the epithet to denote the sculptor is *Śaila-rūpakāra* (Arch. Survey Report, 1908-9, p. 135.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

A Jaina Gaṇeśa of Brass
By Courtesy of Indian Historical Research Institute, Bombay :

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

A JAINA GAṆESA OF BRASS

BY

H. D. SANKALIA, M.A., LL.B., Ph. D. (Lond.)

The image of Gaṇeśa [1] which is here discussed and illustrated is now exhibited in the collection of "Bronzes" in the Museum of the Indian Historical Research Institute, St. Xavier's College, Bombay.

The image is cast in brass and is 6·5″ in height and 4·5″ in breadth (the entire cast). Gaṇeśa is represented as sitting in the crose-legged posture for meditation (*padmāsana*), on a lotus-seat (*padma-āsana*), which is resting on a rectangular stand. Behind, on the stand, is a "toraṇa" [2] surmounted by a *kalaśa* [3]. Over this was held an umbrella as is indicated by a loop affixed at at the back. He has 18 arms the additional 16 springing up from the two main arms), and has his trunk towards the right. The point where it is again turned to the left is joined up with the main part of the trunk to form a circular receptacle (perhaps to hold some object?). Gaṇeśa wears a *karaṇḍamukuṭa*, *hāra*, *sarpopavīta* (sacred thread in the shape of a serpent), which also covers the

1. See Plate. A photograph of it is published here with the kind permission of Rev. H. Heras, S. J.

2. After Comaraswamy, *Catalogue of the Indian Collections in the Museum of Fine Arts*, Boston (1923), pp. 105 and 108, though usually it is called a *prabhāvali*.

3. Coomaraswamy *Ibid.*, calls this ornament, which appears on the images published by him (mainly from Gujarāt) a *caitya* and doubts if it is a vestige of Buddhist or Jaina influence. This name for the ornament seems to be improper. It is undoubtedly *kalaśa*, and is usually found on the images in Jaina temples from Gujarāt. Most probably this *kalaśa*—type ornament is a result of the evolution of the triple umbrella marks found on Jaina sculptures, which getting mixed up with the architectural ornament—*kalaśa*—took this shape. *Caitya*, however, would be a proper name for this ornament in Buddhist sculptures as explained by Bhattacharyya, *Buddhist Iconography*, p. 191.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

belly, and a lower garment. In his left lap is seated his *Śakti*, Lakṣmīdevī, who is represented with two arms only ; her right hand carries a flower *nīlotpala* (?) and the left a *cāmara*. Just near the left leg of the lotus-stool is a small rat eating a sweet ball, *modaka*.

This image is remarkable for a number of reasons.

First, for the number of arms. Gaṇeśa in his representations as Vīra-Vighneśa or as Mahā-Gaṇapati is, at the most, endowed with 16 or 10 arms respectively [1] but not more. Neither has a figure with more arms been published so far.[2] This figure of Gaṇeśa has 18 arms and the emblems held by the hands are not in accordance with those prescribed in the case of a multi-handed Gaṇeśa [3]. Here we have (beginning with the right hands from the top), a pointed object held in the fist—perhaps a *śūla* (dagger, now broken); 2 *paraśu* (axe); 3 radish [4]; 4 *muśala* (pestle) or *baṇa* (arrow); 5 *gadā* (mace) or is it a kind of flower ? 6 palm stretched out on the side (is it *daṇḍahasta* [5] or *abhaya mudrā* ?); 7 palm similarly stretched out but holds *akṣamālā* (rosary); 8 *triśūla* (tridenta) ? 9 *vajra* (thunderbolt). The left hands have : 1 *abhaya mudrā* [6] ; 2 *dhanur* (bow) ; 3 *kalaśa* (water-vessel) ; 4 pomegranate (?), 5 *aṅkuśa* (elephant-goad) or *pāśa* (noose); 6 book (?) ; 7 *aṅkuśa* again (?); 8 broken tooth (? ; 9 *bijorakaṁ* or *vigorā* fruit (citon) [7].

Secondly for the pose. The usual sitting pose for Gaṇeśa figures is *mahārājalīlā* ; less frequently the *ardhapadmāsana* pose prescribed by canonical texts [8]. But this figure is seated in a full

1. Cf. Gopinath Rao, *Elements of Hindu Iconography*, Vol. I, pp. 52 and 55.

2. See *Ibid.*, and Getty, *Gaṇeśa* ; also Coomaraswamy, *op. cit.*, and *Catalogue of the Collections in the Colombo Museum* ; Ramachandran, *South Indian Hindu Metal Images in the Madras Museum* ; Bhattasali, *Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum.*

3. See Gopinath Rao, *op. cit.*, Vol. I, pp. 52 and 55.

4. See Getty, *op. cit.*, pp. 18 and 32.

5. This should properly be shown by the left hand.

6. Usually this is shown by one of the right hands.

7. See Getty, *op. cit.*, unnumbered page after the Introduction.

8. See Gopinath Rao, *op. cit.*, Vol. I, p. 49 and pl. x. fig. 1.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

padmāsana Till now no sculpture either in stone or in "bronze" seated in this pose is published from Indian collections. [1]

Thirdly, for its trunk. It is turned to the right. This is, however, not an absolutely unusual feature for figures with trunks similarly treated are found. [2]

Fourthly, for the *kālaśa*-like ornament on the *toraṇa* of the stand. This suggests Jaina influence, as an identical ornament is found on the images of the Jaina Tîrthankaras in the collection of the Museum. It is not improbable that the image belonged originally to the *grabha-gṛha* (shrine-chamber) of some Jaina temple where it was worshipped along with other brass images, because Gaṇeśa is worshipped as a lord of auspicious events and remover of obstacles even by the Jainas, and the ritual of establishing (*pratiṣṭhāpaṇavidhi*) his image is described at length in a Jaina work called *Āchāradinakara.*[3] According to this work an image of Gaṇeśa may be of several kinds—*prāsādastha, pūjanīya, dhāraṇīya,* and *vidyāgaṇaśa* ; may be made of any metal *including brass* (*riti* or *riri*) *but not of any other mixed metal, may have* 18 or even 108 hands and *may be seated in a padmāsana*[4]. Our image, it will be seen, has many of these features —*viz.*, it is made of brass and has 18 hands. Further, (to cite archaeological evidence), an image of Gaṇeśa is usually placed either on the entrance gateway or on that of the shrine in a Jaina temple[5].

1. Even from outside India, Gaṇeśa figure in full *pādmāsana* published so far is only one—a Four-headed Gaṇeśa from Indo-China, (See Getty, *op. cit.*, pl. 27 and pls. 25—28 respectively), though a number of figures in partial *padmāsana* are known

2. *Ibid.*, pls. II b ; IV b ; Xb ; XXb ; XXXVIa ; cf. Rao, *op. cit.*, p. 48 ; (however he has not published a single image of this nature).

3. Published in two parts in the *Kharatara Granthamālā*, No. 2 (A.D. 1922), p, 210. I am thankful to my friend, Mr. S. C. Upadhyaya for drawing my attention to this work.

4. *Ibid*, p. 210.

5. For instance, on the doorway of the *devakulikā* on the left of the principal entrance of the *sabhamaṇḍapa* of the Jaina temple at Sarotrā, N. Gujarāt. See Burgess, *Archaeological Survey Western India*, Vol. IX, p. 100.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

It may be pointed out here incidentally that this point—the place of Gaṇeśa in Jainism (literature [1] and sculpture) has not been touched upon by Getty in her otherwise exhaustive work on Gaṇeśa.

Two other points may be noted. First, that though the Śakti of Gaṇeśa is seated on his left lap as is the case with Śakti Gaṇapatis she sits unsupported.

Second, this is one of the very rare cases in which the figure of Gaṇeśa is so well proportioned as this one. Artistically it does not look ugly but looks well modelled just because the belly is made proportionate to suit the *padmāsana*-pose of the figure.

It is not known whence the figure came The *kalaśa*-type ornament and other features point towards Gujarāt as its provenance where it was probably worshipped in a Jaina temple or home as a *dhārṇīyamūrti* (portable image) and place it in about the 15th century A. D.

1. Hemachandra's works, for instance, do not begin with an invovation to Gaṇeśa. Still Gaṇeśa is mentioned by him in his *Abhidhānak* (c) *intāmaṇi*, ed. by Boehtlingk and Rieu (Petersburg 1847), p. 35 as Heramba, Vighneśa, Paraśupāṇi, Vināyaka, etc.; see also *Abhidhānasamgraha*, Vol. II, p. 12.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Introductory.

At the beginning of the Indian researches the inscriptions of the Mauryan Emperor Asoka were a sealed book for the European Scholars; but it was also through their laudable efforts that these records on stone were deciphered by the help of Cylonese Buddhist texts. Prof. T. W. Rhys Davids remarked that "It is not too much to say that without the help of the Ceylon books the striking identification of the king Piyādasi of the inscriptions with the king Asoka of history would never have been made."[1] Henceforth it became an easy task for the scholars to study the inscriptions more successfully; but in doing so they could not keep clear their vision of the latter monkish evidence and were mostly swayed by the accounts of the poetical and sectarian books of the Cylonese Buddhists.[2]

The Buddhist legends are not pure history.

It seems that the accounts of the Buddhist legends are not pure history to rely upon. Mr. Vincent Smith admitted that these chronicles are full of 'silly fictions' and hence are 'of no historical value.' They should be 'treated simply edifying romances.'[2] Prof. D. R. Bhandarkar supports him when he says that Buddhist traditions expressed in these chronicles contain 'such downright absurdities and inconsistencies' and 'disclose so much of dogmatical and sectarian tendency that very little that is contained in these traditions may be accepted as historical truth.'[3] Moreover in the words of Prof. R. K. Mookerjee, 'these legends are themselves at

1. American Lectures, p. 46,
2. Smith, Asoka, pp. 19—23.
3. Bhandarkar, Asoka, p. 96.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

conflict with one another in many places and thus betray themselves all the more.'[4] Prof. T. W. Rhys Davids' following remarks also seem to hold good :—

"Now that we have the contemporary records in all their simplicity and redolent of the time, the picturesque accounts, written six centuries or more afterwards by well meaning members of the Buddhist Order, who were thinking the while not of historical criticism, but of religious edification, seem of poor account" Buddhist India, p. 274).

"It is therefore," says Dr. Kern,[5] "unsafe to draw inferences from such narrations." Yet there are a few scholars like Dr. Hultszch who have faith in these legends. But the recent remarks of Rev. Fr. H. Heras, S. J. may be taken as a last word on the point. He writes[6] :—

"The Buddhist chronicles of the 4th, 5th and 6th centuries have deceived many a scholar. To count so great a monarch as Asoka among the disciples of Gautama was unquestionably a distinct advantage to the declining Buddhist monachism. Hence their statement is not reliable at all."

Dharma of the Predecessors of Asoka.

Therefore the only reliable evidence on the subject are Asoka's inscriptions themselves and we should see from them that what was the *Dharma* of Asoka. But we find Asoka stating in his 7th pillar edict that his predecessors endeavoured to propogate and diffuse the spirit of Dharma among the people, though they were not successful.[7] Now let us see, who were these predecessors of Asoka and what was their Dharma? Asoka ruled over India from Magadha and no doubt he was the king of Magadha. Therefore his predecessors

4. Mookerjee, Asoka, p. 2.

5. Manual of Indian Buddhism, p. 115,

6. Quarterly Journal of the Mythic Society, Vol. XVII p. 255. The present writer is indebted to Rev. Fr. H. Heras for deriving help from his learned collaboration, *loc. cit.*

7. Mookerjee, Asoka, p. 186 (P. E. VII).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

can only be the kings of Magadha. In the Indian history the first historical king of Magadha known is Śreṇika Bimbaśara.[8] He and his successors Ajātaśatru and Udayin were followers of Jainism [9] and we know from the Jaina records that they strived and worked for the cause of the religion of *Jinas*.[10] Nandas upset these *Saisunāgas* and it is evident from the Hāthigumhā inscription [11] and from the literary evidence as well,[12] that the earlier Nandas were likewise the adherents of Jainism. Some of the latter Nandas of course seem to have been of Brahmanical pursuasion. These were a bit remote predecessors of Asoka, though Jainism mostly had a great claim on them. But the immediate predecessors of Asoka were his own parents. These too, were attracted by Jainism and seem to have actually professed it.

It is evident from the Jaina accounts that Mahāvîra, the last Jaina Tîrthaṇkara was successful in preaching his religion among the Moriyas, who were the kinsmen of Chandragupta. One of the chief apostles of Mahāvîra was a Moriyaputta and there were also many other Moriyaputtas[13] who became his followers.[14] Thus Jainism predominated amongst the Moriyas [15] and it was but natural for Chandragupta, the grandfather of Asoka, who of course had connections with the Moriyas and lived with them,[16] to get into its influence from the very boyhood. The Jaina tradition make him a Jaina king from the very beginning of his reign.[17] He

8. Early History of India, p. 33,

9. „ „ p. 33 and Cambridge History of India, I. p. 161.

10. My ' Saṃkṣipta Jaina Itihāsa, vol. II pt. I pp. 14—28.

11. Journal of the Behar & Orissa Res. Soc., Vol. XIII p. 245.

12. Early History of India, pp. 45—46 ; Parisiṣṭa-Parva ; Yogaśāstra etc., and Saṃk : Jaina Itihāsa II, pt. I. p. 29 ff.

13. Saṃkṣipta Jaina Itihāsa, Vol. II, pt. I. p. 122.

14. Bhagavatî-Sutta (Hyderabad ed.) page 427. 'तामकी नाम मोरियपुत्तेगाहावइ होत्था ।' etc.

15. Saṃkṣipta Jaina Itihāsa, Vol. II, pt. I, p. 237.

16. Some Kṣatriya Clans of Ancient India, p. 205 and Saṃkṣ. Jain Itihās II, i.

17. Bhadrabāhu-Charitra, Ch. II & Tiloyapaññati, Praśasti.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

has been styled as a Jaina king along with Himasîtala, in a geneological list of Hindu Rājās as well.[18] In fact, the available Jaina evidence is reliable enough to impress the scholars with its authenticity.[19] Hence Chandragupta has been regarded as a disciple of the great Jaina monk Śrutakevalî Bhadrabāhu, who abdicated in favour of his son on hearing about a 12 years' famine in North India from his venerable precept and retired with him and the Saṃgha to South India, where he served his preceptor till his death at Śravaṇabelagola and glorified Jainism by his illustrious religious deeds.[20]

After Chandragupta, Vindusāra sat on the throne of Magadha. Buddhistic legends state that he followed the religion of Brahmanas; but they are not unanimous on the point, for we find in one of them stated that Vindusāra and his queen, the mother of Aśoka, honoured the Ājîvika Saints.[21] On the other hand, the Jaina literature styles him as a Jaina and names him as 'Śiṃhasena' also.[22] It is stated therein that some Vedic Brāhmaṇas once influenced the

18. Mackenzie Mss. Book No. 20, JASB., VII p. 411.

19. Early history of India, p. 154 & Cambridge History of India, I, pp. 164—165.

20. Narasimhachariar, Śravaṇabelagola pp. 25—40.

The Jaina tradition describes Chāṇkya, the minister of Chandragupta, also as a Jaina and states that he too, retired and became a Jaina monk like his master. However Prof. S. R. Sharma's following remarks are notable in this respect:—"The Jainas believe that Chāṇakya was also a Jain, favoured Jain teachers, and in his old age tried to strive himself to death like a true Jain saint" (Jolly, Arthaśāstra, Intro. p. 10) Tradition represents the 'wicked minister' as having repented and retired to 'Shookal Tirtha' on the banks of the Narbada, where he died and Chandragupta is also supposed to have accompanied him. 'Shookal Tirtha' is the exact Sanskrit equivalent of 'Belgola' which in Kanarese means 'White pond.' In the inscriptions it is also called *dhavalasaraṃ* which also means 'White lake'. This co-incidence, if it were merely accidental, is certainly significant. Apart from minor details, this confirms the opinion of Rhys Davids that "the linguistic and epigraphical evidence so far available confirms in many respects the general reliability of the tradition current among the Jains." (Buddhist India, pp. 164—270).

21. Mookerjee, Asoka pp 3 and 64 f.

22. Pariśiṣṭaparva and Rajavalikathe—Prof. Hiralal, Jain Silālekha Saṃgraha, Introduction pp. 61 ff.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

sensual indulgence all atonce.[31] As he advances in his spiritual belief he gets disgusted with his that condemnable habit and gives it up altogether in no time. Moreover in the Buddhist period it was only Jainism that gave a full stress on Ahiṃsa and condemned meat dishes. Brahmaṇas, Buddhists and others freely partake of them.[32] Hence the statement of Asoka that in end he abolished *hinsā* in the shape of killing animals for his royal kitchen altogether betrays the influence of Jainism on him. Rice,[33] Thomas [34] and others [35] admitted that Asoka was a Jaina at an early stage of his life.

Buddhist literature also seems to support our this view indirectly, for we find mentioned in the 'Mahāvaṃśa' (V) that "Asoka fed religious mendicants of different sects to test their conduct," and it is said clearly in the 'Samantāpāsādikā' (I, 44-45) that "Asoka followed the doctrine of the heretics for three years.[36]" The heretics (Titthyas) of Buddhists are mostly Jainas [37]. Thus we may be justified to regard that Asoka followed Jainism openly at a time in his life.

Asoka's Dharma was not Buddhism

It is not a new idea that the Dharma of Asoka was not Buddhistic. Fleet,[38] Wilson,[39] Thomas,[40] Macphail,[41] Monahan [42] and other scholars [43] have affirmed this prior to us. Rev. Fr. Heras also

31. Gommatasārā 28. 'णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥
—गोम्मटसार।

32. See my Hindi treatise entitled "Bhagawāna Mahavîra Kî Ahiṃsā" (Delhi), pp. 12—37.
33. Mysore and Coorg from the Inscriptions, pp. 12—13.
34. JRAS. IX 181 ff. 35. Hindi Viśwakoṣa, Vol. VII, p. 150.
36. Buddhistic Studies, pp. 205—206.
37. JBBRAS., Vol. IV Jany. 1855, p. 401 ff.
38. JRAS. 1908. pp. 491—492. 39. *Ibid*, p. 238.
40. JRAS. IX, 181 ff. 41. ASOKA p. 48.
42. Early History of Bengal p. 214.
43. Journal of the Mythic Society, XVII, 271—273 and Hindi Viśwakoṣa, VII.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

remarks that " Even Dr. Kern says that 'inscriptions, with a few exceptions, contain nothing particularly Buddhistic.'* Senart after having said that in the Dharma 'there is nothing exclusively Buddhist†; makes the following statement: 'In my opinion our monuments (Asoka's inscrip's) are witnesses of a stage of Buddhism sensibly different from that which is developed in later times.'‡ This is only a guess without any foundation. The same contradiction is also made by Hultzsch. He says that all his moral proclamations 'do not characterize him as Buddhist reformer,' but he adds 'if we turn to an examination of what he tells us about the nature of his Dharma, it appears that the latter is in thorough agreement with the picture of Buddhist morality which is preserved in the beautiful authology entitled 'Dhammapada.'§ Both the statements of Senart and Hultzsch seem to have been elicited in compliance with the statement of those who style Asoka the great Buddhist missionary." [44]

Prof. Radhakumud Mookerjee also do not find pure Buddhism in the Dharma preached by Asoka, but he tries to uphold the view that Asoka professed Buddhism by pointing out that his private or personal religion was different than that of his edicts.[45] But it seems hardly tenable since human psychology teaches us that man cannot inspire and work against the ideal which is very near and dear to his heart. Hence the following statement of Rev. H. Heras, S. J. is characteristic on the point :—

> " But if we examine carefully, without bias and with an open mind, Asoka's moral precepts and dogmatic tenets .. . we immediately realise that his Dharma is common to all Indian religions, though specially influenced by Jaina doctrines as regards sacredness of inviolability of life." *(JMS., xvii. 271).*

Contd.

* Manual of Indian Buddhism, p. 112.

† Indian Antiquary, XX, p. 260. ‡ *Ibid* pp. 264—265.

§ Hultzsch, C. I. I., I., p. xlix.

44. Journal of the Mythic Society (JMS.) XVII, p. 271.

45. Mookerjee, Asoka, pp. 60—68.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. V No. I, page 32.

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events.
27	.....	Jaratakumāra of the Yādava-vaṃśa and cousin of Śrî Kṛasṇa went to Kalinga and ruled over that country. In his line the following kings appeared who were followers of the Jaina faith and rulers of Kalinga :— Vasudhwaja, Suvasu, Bhîmvarmā, Kapiṣṭha, Ajātśatrû, Śatrusena, Jitāri and Jitaśatru. Jitaśatru was related to the father of Tîrthankara Mahāvîra. (Ref. Hari s. 66).
28	Pauṣa Kṛṣaṇa Ekādasî 895 B. C. or 877 B. C.	After 83750 years since the nirvāna of Tîrthankara, Aristā-Nemi, Pārśvanāthā, the last but one Tîrthankara born at Benares. His father was King Aśva or Viśvasena of Ugravaṃsa and his mother was Queen Vāmādevî.
29	.....	Prince Pārśvanātha while on a stroll, met Tāpasa Mahîpāla, who was practising false asceticism, *viz.*, Panchāgani-tapà, Haṭhayoga etc., and pointed to him its uselessness and harm. But the cenceited *tāpasa* became enraged at his thus publicly denouncing the mode of selftorture as a

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

No.	Period & Date.	Events.
		means to salvation and he showed a half-burnt pair of snake to the beguiled Tāpasa. This incident is significant of the great reforming spirit, deep thoughtfulness and clear sight of Prince Pārśva.
30	.....	According to the Digambara belief Pārśvanātha enjoyed worldly life as a bachelor Crown Prince for thirty years He was not married and observed the house-holder's vows from his very boyhood. But the Śvetāmbaras differ from this view. It is related in Śvetāmbara canonical books that king Aśvasena sent Prince Pārśva for the help of king Prasenjit of Kuśasthala, who was attacked and beseiged by the army of the Mlechchas. Pārśva fought bravely against the Mlechchas and drove them away. King Prasenjit's daughter Prabhāvati was charmed with the Pārśva's valour and bravery and she was ultimately married to Pārśva; who passed several years of happy conjugal life with her. In another Śwetāmbara legend the name of the father of Prabhāvatî is given as Naravāhana. Digambaras do not believe in this legend and style Pārśva as a Bāla-brahmachārî along with four other Tîrthankaras.
31	Pauṣa Kṛṣanā Ekādasî 865 B.C. or 847 B. C.	King of Ayodhyā sent an embassy to Benares with valuable presents for Prince Pārśva; who received it joyfully and enquired of him about the history of Ayodhyā and its kings. When Pārśva came to know about the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

No.	Period & Date.	Events.
		greatness and pious deed of Śrî Ṛṣabhadeva and other kings of Ayodhyā from the narration of ambassador, his spirit of renunciation was awakened. He renounced the world and became a naked ascetic.
32	Pauṣa Kṛṣaṇā Chaturdasî 865 B. C. or 847 B. C.	Pārśvanātha after attaining to *manahparyaya-jñāna* at *Aśvatthavana* retired to the town named Gulmakheṭapura, where he was entertained as a pious ascetic by king Dhanya.
33	Ditto to Chaitra Kṛaṣnā 13th.	Śramaṇa Pārśva returned to some quiet peaceful forest and set himself to observe deep contemplation and severe asceticism. His manly valour and bravery then manifested in the shape of perfect spirit of forbearance, endurance and sacrifice. He suffered much at the hands of men and gods, but he never lost his temper. For full four months continuously he remained absorbed in concentrating his mind and atlast travelling about he reached again in the *Aśvattha-vana* in the vicinity of Benares; where when he was standing lost in undisturbed meditation, a celestial being namely *Saṃvara*, who bore enemity against him since last nine incarnations of worldly life, appeared on the scene and began to harass the great ascetic in many ways. At this moment the Nāga king Dharanendra and his consort Padmāvatí came of their own accord to do homage and show their gratitude since they were the snake-pair in their previous life whom Pārśvanātha saved half-burnt. They made Saṃvara to run away.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

No.	Period & Date.	Events.
34	Chaitra Kṛaṣṇā 14th 865 B. C. or 847 B. C.	As a result of this struggle Pārśvanātha succeeded to crush all the four *Ghātiā Karmas* and attained true perception. He became an omniscient teacher and came out to world to preach his great gospel of Truth and Ahiṃsā. Jacobi and other oriental scholars regard Pārśvanātha as an historical personage and the founder of Jainism, but in fact he was only the last but one of the Tîrthankaras. The real founder of Jainism in this cycle of time was Ṛṣabha, the first Tîrthankara. Dr. Jacobi himself remarked once that, " there is nothing to prove that Pārśva was the founder of Jainism. Jaina tradition is unanimous in making Rishabha, the first Tîrthankara (as its founder)..... there may be something historical in the tradition which makes him the first Tîrthankara." (IA. IX-163 .
35	Śrāvana Śukla Saptamî 795 B. C. or 777 B. C.	Pārśva attains Nīrvāṇa from Svarṇabhadra—Kūṭa summit of the Sammeda-Sikhara hill in the province of Bihar—the same has since been known by the name of Pārasnāth-Hill.
36	Do.	Suyambhû—gaṇadhara succeeded Pārśva and became the head of the Jaina Saṁgha.

[Refer. Uttarapurāṇa, S-73 ; Bhagawāna Pārśvanātha (Hindi) Surat 2455 A.V. ; Life stories of Pārcvanātha ; etc]

To be Continued.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Select Contents of Oriental Journals.

1. *Indian Historical Quarterly, Vol XV, June 1939* :—

   pp. 175—182.—*Magic and Miracle in Jaina Literature* by Prof. Kalipada Mitra, M A , B.L.

   pp. 208—229.—*The Silk Trade of Patna* by Prof. J. N. Sarkar.

2. *Ditto*., Vol. XV, March, 1939 :—

   pp. 75—89.—*Crime & Punishment in Jaina Literature,* by Kalipada Mitra, M A., B.L.

3. *New Indian Antiquary* Vol. I, March 1939.
   Inscriptions of Kathiawad by D B. Diskalkar.

4. *Journal of the Royal Asiatic Society, April 1939* :—

   pp. 217—240.—*Demetrias in Sind* ? by E. H. Johnson.

   pp. 264—265. *Date of the word Urdu* by T. G. Bailey (" the word Urdu *used alone* for the language, as far back as 26th May, 1782.)

5. *Epigraphia Indica,*—Vol. XXIII, Pt. VII, July, 1936 :—

   " *Four Ganga Copper-Plate grants* " ed. by S. N. Chakravarti.

6. *Quarterly Journal of the Mythic Society*—Vol. XXIX, January 1939.

   pp. 259—269 —*A leaf from the Early Chalukya Chronology* by K. S. Vaidyanathan, B. A..

   pp. 310—315.—*Poligars of Mysore* by P. B. Ram Chandra Rao.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jaina Bibliography.

Sanskṛit, Prākrata etc. :—

Varānga carit of Jaṭāsiṃhanandyācārya in Sanskrit, edited with notes and Introduction etc., by Prof. A. N. Upadhya 500 pages. Māṇikcand Jain Granthamala, Hirabagh. Girgaon, Bombay (1939) Rs. 3/-

Atmāuśasana of Guṇabhadrācārya in Sanskrit, edited with English translation by Pt. Ajita Prasad M.A., Ll. B. in the Sacred Books of the Jainas Series, Central Jain Publishing House, Ajitasarma, Lucknow.

Ullāsakallolinî by T. R V N. Sudarsanāchārya, pp. 52 (Madras 1936).

Sanskrta-Prācina-stavana Saṃdoha by Muni Viśālavijaiji, Vijayadharma Suri Granthamala, Sarāfa, Ujjain (1939).

English :—

Sayings of Lord Mahāvīra by K P. Jain (S. L. Jain Gift Series, I) Jain Litreature Society, Jaswantnagar (Etawah). 1939.

Hindi, Marathi, Gujrāthî etc :—

Jain Itihāsa Kî Purva Pîthikā (Hindi) by Prof. Hiralal Jain, M.A., Hindi Grantha Ratnākara Office, Girgaon, Bombay (1939).

Prāchina Jaina Itihasa (Hindi) Pt. III by Pt. Moolchand Vatsal. Digambara Jaina Office, Chandawadi, Surat (1939).

Saral Jain Dharma (Hindi) in four parts by Pt. Bhuvanendra Saral-Jain Granthamālā, Jawaharganj, Jubbelpore (1939).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted. under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir, Brajendra Nath Seal, Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 18.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0.

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavan, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., typewritten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

DR. B. A. SALETORE M. A., Ph. D.
PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A.
B. KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २।)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ।।)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २।)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ।।)
(यह अर्ध मूल्य है)

(१०) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।।)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

CC-0. Gyanatrasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust